संचारी– **यह तेरो ज्ञान ध्यान यह नयो जोबन,**
यह ससि-मुख तैं नाहिन कहेनों ।।

आभोग– **तानसेन के प्रभु वे बहुनायक,**
सब सखियन मैं तेरोई लहेनों° ।।२।।

(२५)

राग-नायकी का निम्नलिखित ख्याल भी घरानेदार गायकों में सुप्रसिद्ध है । "कानडा के प्रकार" पुस्तक में पृष्ठ-२१६ पर राग नायकी-कानडा, ताल-त्रिताल में इसका शब्द-पाठ निम्नानुसार छपा हुआ है:–

स्थायी– **मेरो पिया रसिया पिया रसिया**
सुनरी सखी मेरो दोष कहां भयो ।

अंतरा– **नवल लालको सब को जाने,**
कौन गांव की रीति ।।

उपर्युक्त ख्याल को कोई नायक विलंबित में भी गाते हैं । किन्तु इस द्रुपद अंग की प्राचीन चीज को ख्याल के ढांचे में ले जाने के लिए बंदिशकारों ने शब्दों में तोड़-मरोड़ की है । स्थायी और अन्तरे के अंतिम शब्दों के प्रासानुप्रास विपरीत दिशा में हैं । संचारी-आभोग सहित अष्टछाप परंपरा का यह पद पुष्टिमार्गीय कीर्तन प्रणाली में नित्य क्रम की सेवा में शयन के दर्शन में राग-नायकी में ही गाया जाता है । सम्प्रदाय के संग्रहों में इनके तीन पाठ प्राप्त होते हैं । प्राचीनता की दृष्टि से प्रथम रचना (अष्टछाप के) श्री परमानंददासजी की, द्वितीय और तृतीय रचना "तानसेन" और "कृष्णजीवन" की है । तीनों रचनाओं के पाठ निम्न प्रकार हैं:–

* पाठ–१

स्थायी– **सुनरी सखी तेरो दोस नहीं, मेरो पिय रसिया ।।**
अंतरा– **जोई देखत सोई ‡लुभाय रहत हैं, कौन-कौन के मन बसिया ।**
संचारी– **ऐसीθ कौन त्रिय जिन पिय बस कर लीने, नेकु चिते हसिया ।।**
आभोग– **"परमानंद" प्रभु कुंवर लाडिलो, अबहि कछु भींजत मसिया ।**

** पाठ–२

स्थायी– **अरी मेरो पिय रसिया, तेरो दोस नहीं री ।।**
अंतरा– **एकन सौं नैन सैन एकन सौं मीठे बैन,**
एकन सों हाथ जोरि-जोरि हसिया ।।१।।

° महेनो
** परमानंद सागर पाठान्तर– ‡ "भूलि"*
θ सौ को जो न करी बस अपने, जातन नेंकु चितें हसिया
*** ह. सं. १, नित्य (प्रत-सं. १८८९)*

संचारी– एकन सों (रस) बतियां करत मिलि,
नैनन सों नैन जोरि मृदु मसिया ॥

आभोग– तानसेन के पिय तुम बहुनायक,
जैसे सरद पून्यों ससिया ॥२॥

* पाठ–३

स्थायी– मेरो पिय रसिया,
सुनरी सखी तेरो दोस नहीं री ॥

अंतरा– नवल लाल कों सब कोऊ चाहत,
कौन-कौन के मन बसिया ॥

संचारी– एकन सों नैना जोरे एकन सों भोंह मरोरें,
एकन सों मुख हसिया ॥

आभोग– "कृष्णजीवन" लछीराम के प्रभु माई,
संग डोलत पूरन ससिया ॥

(२६)

भावनगर के प्रसिद्ध राजगायक स्व. उ. दलसुखरामजी राग पूर्वी, एकताल में मध्यलय का जो ख्याल उनके घराने के ढंग से गाया करते थे उसका शब्द-पाठ निम्न प्रकार है:–

देखो गोपाल जु की आवनी,
स्याम सुन्दर कमलनयन, मूरति मन भावनी ।
बरुहा चंद सीस धरें, गुंजामनि माल धरें ।
"परमानंद" स्वामी गोपाल, अंग अंग नचावनी ।

उपर्युक्त ख्याल वास्तव में हवेली संगीत का पद-कीर्तन है, जो सायं सेवा में संध्यार्ति के दर्शन के समय राग "गौरी" में गाया जाता है । ताल-धमार है । मुकुट का श्रृंगार होता है तब यह पद गाने की प्रथा है । मुकुट वर्णन का पद-पाठ इस प्रकार है:–

स्थायी– देखि गोपाल की आवनी,
अंतरा– कमल-नयन स्याम सुंदर, मूरति मन भावनी ॥१॥
संचारी– बरुहचंद सीस मुकुट, गुंजा मनि लावनी ॥
आभोग– "परमानंद" प्रभु गिरिधर, अंग अंग नचावनी ॥२।

---

* कीर्तन संग्रह (ल. छ.)

(२७)

"संगीत कलाधर" ग्रन्थ में राग–"गारा-कान्हरा" में मध्यलय त्रिताल में जो ख्याल पृष्ठ ४६१ पर प्रकाशित किया गया है । जिनके स्थायी के शब्द हैं "सुन सुत एक कथा कहुं प्यारी" । यह ख्याल हकीकत में पुष्टिमार्गीय संगीत प्रणाली का पद है । इसे बाललीला के पदों में श्रीजी को पौढ़ाने के समय राग-बिहाग में गाया जाता है। सम्प्रदाय के संग्रहों में इनका "कहानी के पद' में समावेश किया गया है । शब्द-पाठ इस प्रकार है:–

स्थायी– **सुन सुत एक कथा कहौं प्यारी,**
अंतरा– **नंदनंदन मन आनंद उपज्यो, रसिक सिरोमनि देत हुंकारी ।**
संचारी– **दशरथ नृप जो हते रघुबंसी, तिनके प्रगट भये सुत चारी ।**
आभोग– **तिनमें राम एक-व्रतधारी, तिनके प्रगट भये सुत चारी ।**
संचारी–२ **तात बचन सुनि राज तज्यो है, भ्राता सहित चलु बनचारी ।**
आभोग–२ **धावत कनक-मृगा के पाछें, राजीवलोचन केलि बिहारी ।**
रावन हरन कियो सीता को, सुनि न नींद निवारी ।
"परमानंद" प्रभु रटत चाप कर, लछमन के दे जननी भ्रम भारी।

तालाध्याय

प्रथम प्रकरण : ताल-विवरण

अष्टछाप (हवेली) संगीत के ताल विवरण में प्राचीन उत्तर भारतीय ताल-प्रणाली की झांकी दिखाई देती है। सम्प्रदाय के पद-संग्रहों की पुरानी पोथियों में कुछ कीर्तनों के शीर्षक में 'अठताल, मठताल, ध्रुवताल, इकताल इत्यादि, ताल-नाम दृष्टिगत होते हैं। ये ताल अधिकतर आज भी दाक्षिणात्य (कर्णाटकी) ताल-प्रणाली में सुप्रसिद्ध हैं। यद्यपि दाक्षिणात्य सम्प्रदाय के सप्ततालों के नाम एवं कुछ प्रकारों का प्रयोग अष्टछापादि ने अपनी गान-पद्धति में किया है, तथापि दक्षिण की कर्णाटकी ताल प्रणाली उत्तरीय प्रणाली से सर्वथा भिन्न है। इस प्रणाली के ताल-नामों का प्रयोग अष्टछाप ने अपनी उत्तरीय पद्धति में किस रूप से किया होगा ? इस प्रश्न की चर्चा उत्तरीय और दाक्षिणात्य ताल-पद्धति के विवरण में आगे की जायगी। तत्पूर्व यहाँ ताल-संबंधी विचार करेंगे। प्रथम हम ताल शब्द क्या है—उसका अर्थ संगीत रत्नाकर में दी हुई निम्न व्याख्या के आधार पर समझेंगे।

ताल

तालस्तलप्रतिष्ठायामितिर्धातोर्घञ्नि स्मृतः ।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥
कालो लघ्वादिमितया क्रियया सम्मितो मितिम् ।*

भावार्थः—ताल शब्द प्रतिष्टार्थक 'तल' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। क्योंकि गीत, वाद्य और नृत्य ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। लघु, गुरु, प्लुत से युक्त क्रिया द्वारा इन तीनों कलाओं को परिमित करने वाला 'काल' ही 'ताल' कहलाता है।

ताल के दस प्राण :—

ताल में दस तत्वों का समावेश होता है। वे ताल के प्राण माने जाते हैं। शास्त्रकारों ने इन दस प्राणों का निम्न प्रकार विधान किया है:—

कालो मार्गः क्रियांगानि ग्रहो जातिः कला लयाः ।
यतिः प्रस्तारकश्चेति तालप्राणा दश स्मृताः ॥वही—५॥

---

* सं. रत्नाकर अ. सं. तालाध्याय पृ. ३,४।

१. काल, २. मार्ग, ३. क्रिया, ४. अंग, ५. ग्रह, ६. जाति, ७. कला , ८. लय, ९. यति और १०. प्रस्तार, ये ताल के दस प्राण हैं । जिनका आवश्यक विचार क्रमशः नीचे किया जाता है ।

१. काल

काल का सामान्य अर्थ है समय । संगीत की गायन, वादन एवं नृत्यादि कलाकृतियों द्वारा जितना समय प्रयोग में लिया जाता है वह 'काल' ही है। इस काल के प्रमाण को नापने के लिए मात्रा-काल ही महत्व का है। लघु, गुरु और प्लुत ये तीनों शब्द मात्रा-काल के ही नाम हैं।

हस्तद्वयस्य संयोगे वियोगे चापि सर्वदा
व्याप्तिमान् यः समादिष्टः स कालस्ताल संज्ञक : ॥९॥

भावार्थः–दोनों हाथों के संयोग से जो ध्वनि होती है, वे 'ताल' संवेदन हैं और हाथों के वियोग की 'काल' संज्ञा है। अर्थात् दोनों हाथों को मिलाने पर या अलहदा करने में जो काल विद्यमान रहता है, उसी काल की संज्ञा, नाम ताल है।

२. मार्ग

मार्ग का साधारण अर्थ है रास्ता। "संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में मार्ग के १. ध्रुव, २. चित्र, ३. वार्तिक और ४. दक्षिण, ये चार मार्ग–भेद बताये गये हैं। ध्रुव एक कला से और शेष क्रमशः दो, चार और आठ कलाओं से बनते हैं।[*] 'चूड़ामणि' में ६ और 'मणिदर्पण' में १२ मार्ग बताये गये हैं। द्रुत, अणुद्रुत, लघु, गुरु आदि कला-विरामों को प्रस्तार की रीति या मार्ग कहा जाता है।

३. क्रिया

[‡] क्रिया दो प्रकार की हैं—निःशब्द और सशब्द। 'निःशब्द' के चार भेद १. आवाप, २. निष्काम, ३. विक्षेप और ४. प्रवेश है।[†]

---

[*] *मार्गाः स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः*
दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवेक मात्रिका कला ॥१६।
शेषेषु द्वेचतस्त्रोऽष्टौ क्रमान्मात्राः कला भवेत् ॥

[‡] *निःशब्दा शब्दयुक्ता च क्रियातु द्विविधा मता ।*

[†] *निःशब्दा तु कला प्रोक्ता चतुर्था सा प्रकीर्तिता*
आवापश्चाथ निष्कामो विक्षेपश्च प्रवेशक : ।

सशब्दा के १. ध्रुव, २. शम्पा, ३. ताल और ४. सन्निपात ये चार भेद बताये हैं।*

सशब्दा क्रिया में पात एवं कला भी कहलाती है।‡

सशब्दा क्रिया के चार-भेदों का भावार्थ इस प्रकार ० कहा है।

१. ध्रुव–चुटकी↑ (ताली) बजाते हुए हाथ को नीचे की ओर ले जाना ध्रुव है।

२. शम्पा–दाहिने हाथ से चुटकी बजाने को 'शम्पा" कहते हैं।

३. ताल–बांये हाथ से चुटकी बजाने को 'ताल' कहते हैं।

४. सन्निपात–दोनों हाथों से एक साथ ताली बजाना सन्निपात है।

४. अंग

अनुद्रुतो द्रुतश्चाथदविरामो लघुस्तथा ।
लविरामो गुरुश्चैव प्लुतश्चेति यथाक्रमम् ॥

अणुद्रत, द्रुत, द्रुतविराम, लघु, लघुविराम, गुरु और प्लुत, ये ताल के सात अंग माने गये हैं। इन अंगो के सांकेतिक चिह्न इस प्रकार हैं।

नाम	चिह्न	मात्रा
१. अणुद्रुत अंग	◡	१
२. द्रुत–अंग	०	२
३. द्रुत–विराम अंग	◡०	३
४. लघु–अंग	।	४
५. लघुविराम–अंग	◡।	५
६. गुरु–अंग	ऽ	८
७. प्लुत–अंग	◡ऽ	१२

इनके अलावा काक–पद का चिन्ह + और मात्रा १६ मानी जाती हैं।

---

* निःशब्देति चुतुर्धोक्ता, सशब्दापि चतुर्विधा ॥१७॥
ध्रुव शम्पा तथा तालः सन्निपात इतांरिता ॥

‡ पातः कला च सा ज्ञेया तासां लक्ष्माभिधीयते ॥१८॥

↑ चुटकी के स्थान पर आजकल एक हाथ पर दूसरे हाथ से ताल देने का व्यवहार है।
ध्रुवो हस्तस्य पातः स्याच्छोटिका शब्दपूर्वकः ।
शम्पा दक्षिणहस्तस्य तालो वामकरस्य तु ।
उभयोः सन्निपातस्यात्तासां मार्गवशान्मितिः ॥

उपर्युक्त सप्त अंगों का उच्चारण करने वाले पक्षियों के नाम भी इस प्रकार बताये हैं।

तित्तिरश्चटकश्चैव वकचातककोकिला :।
वायसः कुक्कुश्चैव क्रमादुच्चारयन्त्यनून् ॥

अणु का तीतर, द्रुत-चटक (गौरेया*), द्रुतविराम का वक (बगुला), लघु का चातक (पपीहा), लघु विराम का कोयल, गुरु का वायस (कौआ) और प्लुत का कुक्कुट (मुर्गा) उच्चारण करता है।

अंगों के विवरण में हस्त चेष्टाओं का विधान भी प्राप्त होता है। जैसे द्रुत के लिए चार अंगुलों की (३-४ इंच) ऊँचाई से हाथ का आघात होता है। लघु और प्लुत के लिए आठ अंगुलों की उंचाई से, तथा काक पद में ऊपर-नीचे एवं दाहिनी ओर हाथ दिखाया जाता है। शब्द न होने के कारण काक पद का नाम निःशब्द भी कहा जाता है।

ताल के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ताली, खाली, भरी के विभागों को मालूम करने के लिए, मात्राओं के कुछ समूहों को अलग-अलग दिखाने के लिए उत्तरीय एवं दाक्षिणात्य संगीत में इन अंग–विभागों की सहायता आवश्यक होती है। इस प्रकार अंगों से ही हरएक ताल बनती है।

उपर्युक्त बताये गये आठ अंगों में से 'कर्णाटकी संगीत' में मुख्य ६ अंगों का ही प्रयोग व्यवहार में है। द्रुत विराम और लघु विराम व्यवहृत नहीं हैं। विराम का अर्थ विश्रांति या समाप्ति होता है। अर्थात् द्रुत या लघु के बाद सुख-भाव के लिये थोड़ी विश्रांति के साथ समाप्ति करना होता है। यह ध्यान रहे कि लघु और द्रुत के साथ ही विराम आता है, अन्य अंगों में नहीं।

५. ग्रह

संगीत (गीत-वाद-नृत्य) का आरंभ ताल के आरंभ के साथ यानी दोनों समकाल से एवं कुछ आगे या पीछे आरंभ होता हुआ भी व्यवहार में है। इनमें ताल की जिस मात्रा से गायन वादन या नृत्यशुरू किया जाता है, उसे ग्रह स्थान कहते हैं। चाहे ताल की पहली मात्रा से आरंभ हो या अन्य किसी भी मात्रा से हो, ग्रह स्थान वही है।

---

* *चिड़िया।*

ग्रह के चार प्रकार माने गये हैं। १. सम-ग्रह, २. विषम-ग्रह, ३. अतीत और ४. अनागत ।*

१. **सम**:—गीत और ताल का समकाल (साथही) आरंभ होता हो तब सम-ग्रह कहलाता है ।

२. **विषम**:—ताल और गीत अनियत रूप से शुरू होता हो तब विषम-ग्रह कहलाता है। कई लोग खाली मात्रा से या अन्य अनियत मात्रा से जब गीत का आरंभ होता है तब उस को विषम-ग्रह कहते हैं।

३. **अतीत**:—गीत के आरंभ होने के पश्चात् अतीत होने के बाद ताल का आरंभ हो तो अतीत ग्रह कहलाता है। अर्थात् ताल का सम निकल जाने के बाद फिर सम दिखलाना अतीत-ग्रह है। भ्रम में डालने के लिये गीत का सम छिपा कर जब ताल का सम निकल जाता है तब गायक लोग ताल का जो सम दिखलाते हैं वह अतीत ही है। इसी प्रकार मृदंग या तबला वादक भी सम के बाद जोर देकर सम दिखलाता है।

४. **अनागत**:—गीत के आरंभ के पहिले गायक या वादक सम के पहिले ही अपना सम दिखलाकर गीत या ताल शुरू करता है, उसे अनागत ग्रह कहते हैं। उपर्युक्त चार प्रकारों के पर्याय नाम क्रमशः १. ताल, २. विताल, ३. अनुताल और ४. प्रतिताल थे। उसी के क्रमशः १. समपाणि, २. विषमपाणि, ३. अवपाणि और ४. उपरिपाणि नाम भी ग्रन्थों में बताये हैं।

६. जाति

प्राचीन ग्रन्थ 'भरतनाट्यशास्त्र' तथा 'संगीत रत्नाकर' में त्र्यश्र और चतुरश्र प्रकार की जाति बताई गई है। चतुरश्र जाति का चच्चत्पुट तथा त्र्यश्र जाति ताल का चाचत्पुट नाम से उल्लेख किया गया है । किन्तु इनका यथार्थ प्रयोग 'अंधयुग' में विसर्जन होने के बाद जाति शब्द लघु के अक्षर काल या मात्रा काल के अर्थ में परिवर्तन हो गया । लघु की तीन मात्रा रहे तो त्र्यश्र जाति और चार मात्रा रहे तो चतुश्रजाति बनती है। इस प्रकार लघु की कीमत बदलने पर जातियां बदलती रहती हैं, जो दक्षिण भारतीय ताल प्रणाली में विद्यमान है । दक्षिण यानी कर्णाटकी संगीत सम्प्रदाय में सात ताल और प्रत्येक की पाँच-पाँच जातियाँ मानी गई हैं।

---

* *समातीतोऽनागतस्य विषमश्च चतुर्विधः ।*
ग्रहस्तालेषु विज्ञेय : सूक्ष्मदृष्टया विचक्षणः ॥

सप्त तालों के नाम*:– ध्रुव ताल, २. मठताल, ३. रूपक ताल, ४. झपताल, ५. त्रिपुट ताल, ६. अठताल और ७. एकताल

पांच प्रकार की जातियों के नाम इस प्रकार हैं।θ

१. चतुरश्र, २. त्र्यश्र (तिश्र) ३. मिश्र जाति, ४. खंड जाति, ५. संकीर्ण जाति।

दक्षिण की कर्णाटकी संगीत प्रणाली में मुख्यतः सात ही ताल हैं, परन्तु उपर्युक्त पाँच जातियों के कारण प्रत्येक ताल की पाँच पाँच संख्या बनती है। इस सम्प्रदाय में तालों के लिये अंग-नाम, मात्रा-काल तथा सांकेतिक चिन्ह इस प्रकार हैं।

नाम	**चिन्ह**	**मात्रा**
विराम	⌣	१
द्रुत	०	२
लघु	।	४
गुरु	ऽ	८
प्लुत	३	१२
काक–पद	+	१६

७. कला

'कला' शब्द शास्त्र में तीन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। (अ) कला शब्द का अर्थ है 'भाग'। जो काल प्रमाण का नाम है। (आ) आदिकाल में चच्चत्पुट, चाचपुट इत्यादि पांच ताल ही थे। परन्तु इनके अंग को द्विकला (दुगुना) चतुष्कला (चौगुना) और अष्टकला (अठगुना) करके नये-नये तालों की कल्पना किया करते थे। उस समय कला-वृद्धि का यही नियम था। चतुश्रजाति-चच्चत्पुट के ताल में एककल, द्विकल, चतुष्कल रूप थे और चाचत्पुट-तिश्रजाति ताल में त्रिकल

---

* *ध्रुवो मठ्यो रूपकं च झंपा त्रिपुट एव च।*
अट्टतालके ताले च सप्तताला: प्रकीर्तित: ॥

θ *चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र: खंडो मिश्रस्तथैव च।*
संकीर्ण इति विज्ञेया जातय: क्रमशो बुधै: ॥

षट्कल और द्वादशकल इत्यादि रूपों से कला-वृद्धि की जाती थी। आजकल दक्षिण एवं उत्तर भारत में एककल, द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल इत्यादि का प्रयोग किया जा रहा है।

(इ) शास्त्र में कला के निम्न आठ प्रकार भी बताये गये हैं:–*

१. ध्रुवका, २. सर्पिणा, ३. कृष्णा, ४. पद्मिनी, ५. विसर्जिता, ६. विक्षिप्तका, ७. पताका और ८. पतिता।

(ई) आजकल कला की निपुणता को भी कला कहने का व्यवहार है। अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्यादि संगीत को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने की क्रिया को कला कहते हैं।

८. लय

क्रियानंतर विश्रांतिर्लयः स त्रिविधो मतः।
द्रुतो मध्यो विलंबश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ॥

क्रिया के आरंभ के पश्चात् होने वाली विश्रांति अर्थात् दो क्रियाओं के बीच में रहने वाले अवकाश को लय कहते हैं। लय के तीन प्रकार हैं::–

१. विलंबित लय २. मध्यलय (विलंबित से द्विगुण) ३. द्रुत-लय (मध्य से द्विगुण प्रमाण की गति)। साधारण अर्थ में गति को ही लय कहते हैं।

९. यति

θलय की प्रवृत्ति अर्थात् चाल-क्रम (गति) के नियम को यति कहते हैं। यति के पाँच भेद हैं। जो इस प्रकार हैं—

१. **समयति**–आदि, मध्य और अंत तक एक ही प्रकार की लय प्रयोग में रहे तो उसको समयति कहते हैं।‡

---

* ध्रुवका सर्पिणी कृष्णा पद्मिनी च विसर्जिता।
विक्षिप्तका पताका च कलास्यात्पतिताष्टमी ॥

θ लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते
समा स्रोतागताश्चान्या मृदंग च पिपीलिका ॥
गोपुच्छा चेति विबुधैर्यति : पंच विधोदिता।

‡ आदिमध्यावसानेषु लयैकत्वेसमात्रिधा।

२. **स्रोतागता व स्रोतावहा**:–इसकी ताल (गति) नदी के जलप्रवाह की तरह रहती है। आदि में विलंबित, बीच में मध्यलय और अन्त में द्रुतलय हो उसे स्रोतागता या स्रोतावहा कहते हैं ।* कुछ विद्वानों के मतानुसार बीच में विलंबित मानी गई है।

३. **मृदंग-यतिः**–जिस प्रकार मृदंग में दोनों ओर छोटा और बीच में बड़ा भाग होता है उसी प्रकार आदि और अन्त में द्रुत, तथा मध्य में बिलंवित लय हो तो उसे मृदंग-यति कहते हैं । मतभेदानुसार आदि-अंत में द्रुत और मध्य में मध्यलय अथवा आदि अन्त में मध्यगति और मध्य में बिलंवित कहा गया है।‡

४. **पिपीलिका-यतिः**–जिस प्रकार चींटी की चाल कभी तेज और कभी धीमी रहती है, उसी भांति पिपीलिका-यति की लय होती है। इसके तीन प्रकार हैं:–

(अ) आदि और अन्त में विलम्ब, मध्य में द्रुतगति।

(आ) आदि अंत में मध्यलय और मध्य में द्रुतलय तथा

(इ) आदि अन्त में विलंबित और मध्य में मध्यलय।

५. **गोपुच्छ-यतिः**–इसकी चाल-गति गाय की पूंछ की तरह होती है। द्रुत से आरंभ होकर मध्य और बिलंवित क्रम से लयों का होना या द्रुत और मध्य तथा मध्य और बिलंवित को भी गोपुच्छ यति कहते हैं।

१०. प्रस्तार

ताल के कई अंगों में से भिन्न-भिन्न रूप से की जाने वाली अंग कल्पना-मात्र 'प्रस्तार' है। कल्पना क्रम से रूपों की कल्पना निश्चयपूर्वक साध्य होती है। प्लुत, गुरु, लघु, द्रुत इन चार अंगों से (चतुरंग) प्रस्तार किया जाता है। प्रस्तारों के प्रमाण-कालादि अंगों द्वारा भिन्न-भिन्न ताल-प्रस्तार का क्रम भी ग्रन्थों में बताया गया है। इन प्रस्तार क्रम से १०८ की ताल संख्या उत्पन्न होने का विधान 'आदि भरत' एवं 'भरतार्णव' ग्रन्थ में बताया गया है। किन्तु अन्य कला भागों के साथ यह प्रणाली भी नष्ट होने के पश्चात् दक्षिण भारत के पुनरुज्जीवित प्रबन्ध 'सालागसूड' के सात ताल मात्र प्रचार में आने लगे। इन सप्त तालों का कोष्टक सहित विवरण आगे में दिया जा रहा है।

---

* *चिर मध्य द्रुत लयैर्युक्ता स्रोतावहा मता ।*

‡ *द्रुताद्यंता मध्यमध्या मृदंगाख्या सतां मता ।*
अथवा ऽऽद्यंतयोर्मध्यगतिमध्ये विलंबिता ।(ताल श्रेणी पृ०-१२)

आजकल के व्यवहार में भिन्न-भिन्न तालों को अग-प्रत्यंगों के काल-प्रमाणानुसार पेशकार, काय, पलटे, टुकड़े, रेले, परन आदि बजाया जाय अथवा चिह्नों द्वारा लिखा जाय, उसे प्रस्तार या विस्तार कहने का रिवाज दृष्टिगत होता है।

दाक्षिणात्य सप्त तालः––

दक्षिण यानी कर्णाटकी पद्धति के सप्त तालों का नामोल्लेख हम पहिले कर चुके हैं किन्तु प्रत्येक की पाँच-पाँच जाति होने के कारण कुल ३५ ताल बनते हैं; जो निम्नलिखित कोष्टक से स्पष्ट समझ सकते हैं।

ताल-नाम	चतस्त्र जाति	तिस्त्र जाति	मिश्र जाति	खंड जाति	संकीर्ण जाति
ध्रुव ताल	४-२-४-४ । ० । । मात्रा-१४	३-२-३-३ । ० । । मात्रा-११	७-२-७-७ । ० । । मात्रा-२३	५-२-५-५ । ० । । मात्रा-१७	९-२-९-९ । ० । । मात्रा-२९
मठ ताल	४-२-४ ।-०-। मात्रा-१०	३-२-३ ।-०-। मात्रा-८	७-२-७ ।-०-। मात्रा-१६	५-२-५ ।-०-। मात्रा-१२	९-२-९ ।-०-। मात्रा-२०
रूपक ताल	४-२ ।-० मात्रा-६	३-२ ।-० मात्रा-५	७-२ ।-० मात्रा-९	५-२ ।-० मात्रा-७	९-२ ।-० मात्रा-११
झंप ताल	४-१-२ ।-U-० मात्रा-७	३-१-२ ।-U-० मात्रा-६	७-१-२ ।-U-० मात्रा-१०	५-१-२ ।-U-० मात्रा-८	९-१-२ ।-U-० मात्रा-१२
त्रिपुट ताल	४-२-२ ।-०-० मात्रा-८	३-२-३ ।-०-० मात्रा-७	७-२-२ ।-०-० मात्रा-११	५-२-२ ।-०-० मात्रा-९	९-२-२ ।-०-० मात्रा-१३
अठ ताल	४-४-२-२ ।-।-०-० मात्रा-१२	३-३-२-२ ।-।-०-० मात्रा-९	७-७-२-२ ।-।-०-० मात्रा-१८	५-५-२-२ ।-।-०-० मात्रा-१४	९-९-२-२ ।-।-०-० मात्रा-२२
एक ताल	४ । मात्रा-४	३ । मात्रा-३	७ । मात्रा-७	५ । मात्रा-५	९ । मात्रा-९

उपर्युक्त कोष्टक के कर्णाटिकी पद्धति में प्रचलित सप्त तालों के नाम, इनकी मात्राएँ एवं लघु, द्रुतादि के संकेत चिन्ह तथा जाति भेद से उत्पन्न होने वाली कुल-३५ तालों का चित्रण किया गया है; जिनमें लघु का मूल्य बदलता जाता है। इस पद्धति के ताल नियम मुख्यत: निम्न प्रकार है:–

१. लघु क्रमानुसार ४, ३, ५, ७, ९ मात्राओं का होता है।

२. तदनुसार क्रम से चतश्र, तिस्त्र, मिश्र, खंड व संकीर्ण प्रकार की पाँच जातियाँ होती हैं। तथापि चिह्न ज्यों के त्यों ही रहते हैं।

३. प्रत्येक ताल की पाँच जातियाँ होने पर सप्त तालों की कुल ३५ ताल बनाती हैं।

४. जितने चिह्न होते हैं उतने ही तल के ठेके तथा खंड (अंग व बार) समझे जाते हैं।

५. ताल की सम सदैव पहिली मात्रा पर रहती है।

६. हर एक जाति में अंग सशब्द और नि:शब्द क्रियाओं से गिने जाते हैं। अर्थात् लघु को एक शंपा (ताल-पात) के बाद बाकी अक्षरों का अंगुलियों से गणन करते हैं। द्रुत को एक शंपा के बाद एक विक्षेप करके गिनते हैं। अणुद्रुत को एक शंपा से गिनते हैं।

दाक्षिणात्य विद्वानों में अपनी पद्धति में जाति भेद से ३५ तालों का उल्लेख किया तथापि आजकल प्राय: हरएक ताल में एक, दो या तीन जातियों का ही व्यवहार दिखाई देता है।

ताल प्रकरण द्वितीय : उत्तर भारतीय ताल

उत्तरीय पद्धति के प्राचीन तालों का विवरण अष्टछाप परंपरा की गायन शैली एवं प्राचीन हस्तलिखित कीर्तन-संग्रहों के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे अष्टछाप काल में प्रचलित तालों का परिचय मिल जाएगा।

हमारी मान्यतानुसार उस समर उत्तरीय संगीत सम्प्रदाय में ध्रुव ताल, मठताल, रूपकताल, झंपताल, त्रिपुट (त्रिवट) ताल, अठताल, एकताल, पटताल, षटताल (खटताल) चपक ताल, जाति ताल तथा चर्चरी ताल इत्यादि का प्रयोग किया जाता था।

इन तालों में हमें कर्णाटकी पद्धति के ताल-नाम भी दृष्टिगत होते हैं। कहीं-कहीं मात्राओं की संख्या में भी समानता है। तथापि इनका प्रकार उत्तर भारतीय संगीत-सम्प्रदाय की गान शैली के अनुसार होने से दोनों पद्धतियों का रूप

भिन्न हो जाता है। शैली-भेद से मृदंग का बाज, ठेका-बोल, ताली, खाली, खंड एवं अंग-प्रत्यंगादि की भिन्नता से दाक्षिणात्य पद्धति से उत्तरीय पद्धति का भिन्न रूप स्पष्ट होता है। जिस प्रकार कर्णाटकी संगीत के कुछ रागों के नाम एवं स्वर समान होते हुए भी उत्तरीय पद्धति से भिन्न प्रकार का रूप दिखाई देता है उसी प्रकार ताल-नाम तथा मात्राएँ समान होते हुए भी शैली भेद के कारण ताल-भेद रूप भिन्न हैं।

लगभग २००-२५० वर्ष पूर्व की लिखित कीर्तन-पोथियों के आधार पर कांकरोली विद्या विभाग की ओर से प्रकाशित 'कुंभनदास' तथा 'कृष्णदास' इत्यादि पद-संग्रह संपादन किया गया है; उनमें कतिपय पदों के शीर्षक पर राग के साथ ताल का जो उल्लेख उपलब्ध होता है, वह उपर्युक्त प्राचीन तालों के समर्थन को स्पष्ट करता है।

इन तालों के क्रियात्मक प्रयोग के उदाहरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खंड में स्वरलिपि प्रकरण में स्पष्ट किये जाएँगे। प्राचीन तालों का विवरण निम्न प्रकार है।

उत्तरीय-प्राचीन तालों का स्पस्टीकरण.–

(१) ध्रुव ताल–मात्रा–१४, पात–४ द्रुत, लघु, लघु, लघु (०।।।)

मा०	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ठे०	धा	किट	द्धा	गे	दिं	ता	क	द्धा	दिं	ता	कीट	तक	गदि	गन
	×		२				३				४			

दक्षिण पद्धति के ध्रुव ताल का रूप ।०।। है, किन्तु प्रथम लघु के स्थान पर उत्तरीय पद्धति में प्रथम द्रुत के बाद तीन लघु माने जाते हैं।

(२) मठताल–मात्रा–१०, पात–३, लघु, द्रुत और लघु (।०।)

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
ठेका	धा	किट	तक	धुम	किट	धा	किट	तक	गदि	गन
	×				२		३			

इन ताल की मात्रा-पात (ताली) और नाम कर्णाटकी सम्प्रदाय के सदृश हैं।

३–(अ) रूपक ताल–मात्रा–६, पात–२ रूप–लघु और द्रुत है। *

१	२	३	४	५	६
धा	–	दिन	दिंग	ता	–
×				२	

---

* मदंग सागर–पृ० २०९।

उत्तरीय रूपक ताल की मात्रा, ताल और नाम कर्णाटक पद्धति के समान ही माने गये हैं।

३–(ब) अन्य मतानुसार प्रमुख द्रुत और बाद में लघु माना गया है,† जो इस प्रकार होगा।

१ २	३ ४ ५ ६
धा तिट	धा दिं ता किट
×	२

४ (अ) झंप-ताल-मात्रा-७, पात (ताली) ३ ।०‿ लघु, विराम; द्रुत‡

मात्रा	१ २ ३ ४	५	६ ७
ठेका	था गे न ता	तिट	किट तक
	×	२	३

४ (ब) कुछ विद्वान् लघु को पीछे हटा कर निम्न रूप को उत्तरीय झंपताल का रूप मानते हैं* नं. ४ (अ) का रूप कर्णाटकी के सदृश है।

१	२ ३	४ ५ ६ ७

५ (अ) ताल-त्रिपुट (त्रिवट) मात्रा-८, । ०० लघु, द्रुत और द्रुतθ

पात-३ इस प्रकार है। मात्रा तथा अंग रूप कर्णाटकी के सदृश हैं।

मात्रा	१ २ ३ ४	५ ६	७ ८
ठेका	धा तिट ता किट	तिट कत	गदि गन
	×	२	३

५ (ब) तिश्र जाति त्रिपुट– ३+२+२=७**

१ २ ३	४ ५	६ ७
पा	पा	पा

---

† मूलाधार पृ० ४, ७२

‡ ताल-दीपिका पृ-२६

* मूलाधार-पृ. १९

θ ताल दीपिका, भाग-४ पृ. २६

** मूलाधार पृ १८—२०

(६) **अठ-ताल (अट ताल) मात्रा-१२** ।।००, लघु, लघु, द्रुत, द्रुत का रूप दाक्षिणात्य पद्धति के समान है। इनमें चार पात (ताली) हैं। चार ताली होने के करण आगे जाकर चौताल नामकरण से संबोधित आधुनिक प्रचार में दृष्टिगत होता है। है। अतः अठताल का रूप इस प्रकार है।०

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
ठेका	धा	कि	ट	धा	किट	धा	दिं	ता	किट	तक	गदि	गन
	×				२				३		४	

उपर्युक्त कर्णाटकी प्रकार है।

कर्णाटकी नामकरण की सप्त तालों के पश्चात् उत्तरीय सम्प्रदाय की अन्य प्राचीन तालों का विवरण निम्न प्रकार है।

(८) **चपक ताल—मात्रा-७,**‿००० अणुद्रुत, द्रुत, द्रुत और द्रुत का रूप है। पात-४

* मात्रा	१	२	३	४	५	६	७
‡ ठेका	धा	किट	तक	धुम	किट	धदि	गन
ठेका	धात्	धिन	नक	किट	तक	गदि	गन
	×	२		३		४	

इस ताल को चंपक ताल भी कहते हैं।θ इन्हीं का आधुनिक ग्रन्थकारों ने 'अर्ध आडा चौताल' नाम से उल्लेख किया है।**

(९) **पट ताल-मात्रा-८, पात-६ रूप** ‿‿०‿‿० दो अणु द्रुत बाद में द्रुत + दो अणुद्रुत।

मात्रा	१	२	३	४	५	६	७	८
ठेका	धा	धा	दि	ता	तिट	कत	गदि	गन
	×	२	३		४	५	६	

---

० *भारतीय ता. मं. पृ. १३*

* *मृदंग सागर पृ. १४९*

‡ *भारतीय ता. मं. पृ १७।*

θ *भारतीय ता. मं. पृ. १७।*

** *नाद चिन्तामणि पृ. तथा संगीत कलाधर पृ. १९१*

आधुनिक त्रिताल के समान मात्राएँ हैं तथापि अंग-प्रत्यंग भिन्न हैं। इस ताल को कोई षट (खट-ताल) भी कहते हैं। किन्तु० खट-ताल का रूप निम्न प्रकार भी प्राप्त होता है।

(१०) **खट-ताल-मात्रा-१८, रूप (। ० । ० ०) है। पात-६**θ

१ २ ३ ४	५ ६	७ ८ ९ १०	११ १२	१३	१४	१५ १६ १७ १८
*धा कि ट धा	दिं ता	दिं दिं धा धा	किट धा	दिं	ता	किट तक गदि गन
×	२	३	४	५		६

इनका रूप आधुनिक मत्त-ताल के समान है।

(११) **जति-ताल (यति ताल) मात्रा-१४**, आधुनिक ग्रन्थों में इस ताल का रूप और बोल प्रचलित दीपचंदी ताल के सदृश बताया है; जिसका प्राचीन रूप एवं बोल इस प्रकार माना जाता है।

मा.	१ २ ३	४	५ ६ ७	८ ९ १०	११ १२ १३ १४
ठेका	धा – –	धी	ट धा –	ग दि न्न	ति स ता –
		२		०	३

ताल दीपिका और मा. ताल मंजली में भी उपर्युक्त मात्राएँ और ठेका-बोल, खंड इत्यादि दीपचंदी के समान ही प्राप्त होते हैं। परन्तु हमारी परंपरागत मान्यतानुसार सम्प्रदाय की जति-ताल का रूप 'धमार' होना चाहिए। उपर्युक्त जति-प्रकार में केवल द्वितीय (ताली) ४ मात्रा से हटाकर ६ मात्रा पर ले जाने से धमार अंग होता है। पं. भातखंडेजी शास्त्र के प्रथम भाग में लिखा है–"यति ताल को कुछ मंद-गति से बजाने से द्रुपद अंग का 'धमार' या तीव्रा हो जाता है।‡ अतः यति या जति ताल को हम धमार का रूप ही समझेंगे, जो इस प्रकार है:—

१ २ ३ ४ ५	६ ७ ८ ९ १०	११ १२ १३ १४
×	२	३

---

० *भारतीय ता. मं. पृ.-७*

θ *नाद चिन्तामणि पृ. १६३*

* *भा. ता. मंजरी अनुसार*

‡ *हि. सं. पद्धति भाग-१ (गुजराती, पष्ठ-६५)*

(१२) **जत-ताल-मात्रा-८** (।०।) रूप है । जो उपर्युक्त जति ताल से भिन्न है ।* ताल दीपिका में निम्न प्रकार का रूप प्राप्त होता है ।

१	२	३	४	५	६	७	८
धा	धीं	धाग	धीं	ताक	तीं	धाग	धीं
×		२		०		३	

(१३) झंपा--(झंप) ताल, मात्रा-१०‡

संगीत रत्नाकर में झंपा का रूप $\underset{\circ}{\smile}$ $\underset{\circ}{\smile}$ ।=३+३+४=१० मात्रा का कहा है; जो इस प्रकार लिखा जायगा ।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
पा			पा			पा			

(१४) चर्चरी-ताल, मात्रा-१० $\underset{\circ}{\smile}$ । $\underset{\circ}{\smile}$ **३+४+३=१० मात्रा**

रत्नाकर के समय के बाद कालान्तर उपर्युक्त झपताल के अंगों में लघु जो अन्तिम है, जो उसको बीच में लाकर उसका रूप निम्न प्रकार बना हुआ दिखाई देता है। अष्टछाप परंपरा में झंपताल के इस रूप को चर्चरी ताल कहते हैं ।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धा	तत्	ता	धे	कि	ट	तक	धा	कि	ट
पा			पा		खा		पा		

चर्चरी ताल का प्राचीन रूप यही है उसका प्रमाण यह है कि इसके अंग रत्नाकर के झंपा से मिलते हुए हैं। दूसरा यह कि प्राचीन प्रबन्धादि उस समय के गीत, पद-कीर्तनादि में भी इनके छंद शब्द रचना इसी चर्चरी ताल के अंग-प्रत्यंगों से सदृश है ।θ उस समय तालों की मात्राओं का कई पदों जैसा विभाग करने की परंपरा थी । अंगों के अनुसार 'पाद भाग' । (खंड) नियत किये जाते थे किन्तु खाली की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था ।

---

* *ताल दीपिका पृ ५*

‡ *झंपातालो विरामान्तं द्रुतद्वन्द्वं लघुस्तथा*

θ *ताल दीपिका पृ. ५*

हिन्दुस्तानी पद्धति के प्रचलित तालों का विवरण

प्राचीन प्रणाली में तालों के अंगों पर विशेष ध्यान दिया है। जबकि प्रचलित हिन्दुस्तानी पद्धति में तालों की मात्राओं तथा ताली एवं खाली के स्थान और ठेके एवं बोल पर अधिक लक्ष्य दिया गया है।

(१) त्रिताल--मात्रा-१६ खंड-४, ताली-३, खाली-१*

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
ना	धीं	धीं	ना	ना	धीं	धीं		ना	तीं	तीं	ना	ना	धीं	धीं	ना
×				२				०				३			

प्रकार-२

धी	धीं	धीं	धा	धा	धीं	धीं	धा	धा	तीं	तीं	ता	ता	धीं	धीं	धा

(२) तिलवाडा या धीमा त्रिताल मात्रा-१६, खंड-४, ताली-३, खाली-१

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धा	त्रक	धीं	धीं	ना	ना	तीं	तीं	ता	त्रक	धीं	धीं	ना	ना	धीं	धीं
×				२				०				३			

(३) ताल पंजाबीθ मात्रा-१६, ताली-३, खाली-१, खंड-४

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धी	नधी	न	धा	धी	नधी	न	धा	ती	नती	न	ता	धी	नधी	न	धा
×				२				०				३			

---

* *प्राचीन ताल विवरण में त्रिपुट ताल का उल्लेख किया गया है। त्रिपुट का त्रिवट होकर त्रिताल हो गया है। त्रिपुट ताल-८ मात्रा से युक्त है। उसे दक्षिण सम्प्रदाय में आदि ताल भी कहते हैं। हर एक अक्षर को दुगुना करके उत्तर-भारतीय सम्प्रदाय में १६ मात्राएँ बनाई गई हैं। अष्टछाप घराने की परंपरा में त्रिताल की मात्रा-८ ही मानी जाती हैं। अष्टछाप के समय में त्रिपुट (त्रिवट) ताल का जो प्रयोग किया जाता था इन्हीं को आजकल त्रिताल के नाम से पुकारते हैं। सम्प्रदाय की इस त्रिताल में १, ३, ५ पर ताली और ७ वीं मात्रा पर खाली है किन्तु आजकल ५ वीं मात्रा पर खाली लेने की प्रथा है जो कि प्राचीन नहीं है।*

θ *पंजाबी माखा धीमा त्रिताल के समान अंग-प्रत्यंग का ताल है। केवल ठेके-बोल में अन्तर है। धीमा त्रिताल (तिलवाड़ा) का विलंबित ख्याल में प्रयोग किया जाता है किन्तु ठुमरी गायन के लिए इन्हीं का अनुसरण रूप बनाये हुए इस ताल का प्रयोग प्रायः ठुमरी गान में ही किया जाता है।*

(४) चौताल मात्रा-१२, ताली-४, खाली-२, खंड-६*

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धा	धा	दिं	ता	किट	धा	दिं	ता	किट	तक	गदि	गन
×		०		२		०		३		४	

(५) ताल-एक ताल‡ मात्रा-१२, ताली-४, खाली-१, खंड-६

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धीं	धीं	धागे	त्रक	तू	ना	क	त्ता	धागे	त्रक	धी	ना
×		०		२		०		३		४	

(६) सूलताल (सुरफागता) मात्रा-१०, ताली-३, खाली-२, खंड-५

प्राचीन सालगसूड प्रणाली के मंठ या मठ्य-ताल के अंग । ० । ४+२+४ लघु, द्रुत, लघु के अनुसार ही उत्तरीय पद्धति में अष्टछाप के समय में मठ-ताल का प्रचार था। किन्तु सम्राट् अकबर के समय के लगभग इसका सूरफागता या सूलताल एवं 'उसूले फाक्ता' नामकरण प्रचार में आने लगे। प्राचीन ताल का ही अनुसरण रूप यह सूलताल द्रुपद अंग का ताल है। प्राचीन समय में खाली के खंड (विभाग) अलग नहीं थे किन्तु अर्वाचीन समय में खाली के खंड अलग बताये जाते हैं। अतः इनके ५ खंड का रूप इस प्रकार है।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	०१
धा	धा	दिं	ता	किट	धा	तिट	कत	गदि	गन
×		०		२		३		०	

---

* चौताल प्राचीन अट्ट (अड्ड) ताल से उत्पन्न हुआ है। इनमें चार ताल-स्थान होने के कारण समयान्तर उत्तरीय पद्धति में चौताल नाम से प्रसिद्ध हुआ।

‡ एकताल का यह रूप ख्याल गायन की उत्पत्ति के साथ विलंबित ख्याल गायन के लिए चौताल से ही उत्पन्न किया हुआ भिन्न प्रकार है। प्राचीन एकताल से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(७) ताल-धमार मात्रा-१४, ताली-३, खाली-२, खंड-४

प्राचीन जति-यति ताल का अनुसरण रूप 'धमार' ताल माना जाता है। अष्टछाप परंपरा में फाल्गुन खेल की श्रीकृष्ण लीला के पदों को धमार के पद से ही संबोधित किया जाता है। होरी खेल के ये पद अधिकतर धमार ताल में ही गाये जाते हैं।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
क	धि	ट	धि	ट	धा	–	धा	ति	ट	ति	ट	ता	–
×					२		०			३			

(८) दीपचंदी मात्रा-१४, ताली-३, खाली-१, खंड-४

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धा	धी	–	धा	गे	तीं	–	ता	ती	–	ध	गे	धीं	–
×			२				०			३			

इन ताल का रूप प्राचीन जति (यति) ताल का अनुसरण है। कोई इसे जत-ताल भी कहते हैं और ठेका–बोल दीपचन्दी के ही दिये हैं।* हमारी मान्यतानुसार जति (यति) ताल का रूप समयान्तर बाद 'धमार' और दीपचंदी ने पकड़ लिया। दीपचंदी को कोई आजकल होरी का ठेका भी कहते हैं।† किन्तु होरी का प्राचीन ठेका धमार है। जो द्रुपद अंग का है। आधुनिक ख्याल अंग की होरी में तथा ठुमरी गायन में दीपचंद ताल का प्रयोग किया जाता है।

(९) झूमरा ‡ मात्रा–१४, ताली-३, खाली-१, खंड-४

प्रकार-१

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धीं	धा	किटतक	धीं	धीं	धागे	किटतक	तीं	ता	किटतक	धीं	धीं	धागे	किटकत

प्रकार-२

धीं	धा	तक	धीं	धीं	धागे	तक	तीं	ता	तक	धीं	धीं	धागे	तक

---

* ताल-दीपिका भा.-२, प.-६

† संगीत-शास्त्र प.-२२७ (के वा. शास्त्री)

‡ मृदंग सागर के अनुसार

इन ताल का अंग-प्रत्यंगादि दीपचंदी के समान है। ख्याल गायन की उत्पत्ति के बाद दीपचंदी से यह ताल उत्पन्न हुआ माना जाता है। जो आधुनिक ख्याल ख्याल गायन में प्रयुक्त होता है और दीपचंदी का होरी के ख्याल तथा ठुमरी अंग में प्रयोग होता है। समान रूप होते हुए भी शैली भेद से दोनों के ठेका-बोल भिन्न बने हुए हैं।

(१०) आडा-चौताल मात्रा-१४, ताली-४, खाली-३, खंड-७

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धीं	त्रक	धीं	ना	तू	ना	क	त्ता	धी	धी	ना	धी	धी	ना
×		२		०		३		०		४		०	

कर्णाटकी सम्प्रदाय के अट्ट ताल चतुश्र जाति के प्रथम लघु और द्वितीय द्रुत के स्थान को अलग उलटा कर अर्थात् द्रुत, लघु, लघु, लघु का रूप हिन्दुस्तानी अट-ताल का प्राचीन रूप है। इसी से आड़ा चौताल उत्पन्न हुआ है। इनमें चार ताल होने के कारण कुछ समायान्तर बाद उसी का आडा-चौताल नाम व्यवहृत होना संभावित है। ख्याल गायन की प्रवृत्ति के पूर्व द्रुपद शैली अनुसार पखवाज में यह ताल का प्रयोग होता था। किन्तु आज कल वह ख्याल-गायन का ताल बन चुका है। अतः इनके ठेका-बोल भी तबला-वाद्य के उपयुक्त प्रकार के प्रचार में दिखाई देता है।

(११) झपताल मात्रा-१०, ताली-३, खाली-१, खंड-४

प्रकार-१

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धी	ना	धी	धी	ना	ती	ना	धी	धी	ना

प्रकार-२

धा	–	धा	गे	कि	ट	किट	धा	कि	ट
×		२			०		३		

उपर्युक्त प्रकार-१ ख्याल गायन शैली के तबला के बोल हैं। इसी का आजकल अधिक प्रचार है। किन्तु द्रुपद घराने के गायक इसी ताल में द्रुपद शैली के जो गीत गाते हैं; उसे वे लोग 'सादरा' कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार-२ के बोल सादरा के साथ पखवाज में बजाये जाते हैं; जिनको कुछ लोग 'चर्चरी' ताल कहते हैं। किन्तु चर्चरी ताल इस झपताल से कुछ भिन्न है।

(१२) तीव्रा मात्रा-७, ताली-३, खंड-३

प्राचीन कर्णाटकी त्रिपुट का तिश्रजाति के अनुसरण रूप हिन्दुस्तानी पद्धति में तीव्रा ताल उत्पन्न हुआ है। इनको पहिले त्रिपुट-तीवरा नाम से पहिचानते थे किन्तु आजकल केवल तीव्रा नाम से ही पुकारते हैं। जो इस प्रकार है।

१	२	३	४	५	६	७
धा	दिं	ता	तिट	कत	गदि	गन
			‿	‿	‿	‿
×			२		३	

(१३) रूपक ताली-३, मात्रा-७, खंड-३

१	२	३	४	५	६	७
ती	ती	ना	धी	ना	धी	ना
×			२		३	

आधुनिक प्रचलित रूपक ताल का रूप तीव्रा ताल के समान है। तीव्रा का ध्रुपद अंग के गीतों में और 'रूपक' का ख्याल-गायन में प्रयोग किया जाता है। आधुनिक रूपक का यह रूप ख्याल गायन के लिए उत्पन्न किया हुआ दिखाई देता है। तीव्रा से भिन्नता लाने के लिए पहली मात्रा ९ सम के स्थान पर खाली बताया जाता है।

(१४) दादरा मात्रा-६

दादरा ताल के दो प्रकार माने जाते हैं। दोनों में मात्राएँ समान हैं। केवल ताली-खाली स्थान में अन्तर है।

प्रकार-१

१	२	३	४	५	६
ध	धी	ना	धा	ती	ना
×			०		

प्रकार-२

१	२	३	४	५	६
धा	धीं	धा	धा	तू	ना
		२		०	

प्रथम प्रकार में ताली-१, खाली-१, खंड-२ हैं। दूसरे प्रकार में दो ताली खाली-१ और खंड-३ हैं। दूसरा प्रकार प्राचीन सम्प्रदाय के रूपक ताल के अनुसरण से उत्पन्न हुआ दिखाई देता है।

(१५) कहरवा मात्रा-४, ताली-१, खाली-१

१	२	|	३	४
धागि	नति	|	नक	धिन
×		|	०	

पुष्टिमार्गीय कीर्तन संगीत की गान परंपरा में तालों का अति महत्व है। इस सम्प्रदाय में मंगला दर्शन के पश्चात् शयन पर्यन्त की सभी सेवा-प्रणाली के साथ जो कीर्तन गान किया जाता है; वह बिना ताल गाने की प्राचीन परंपरा नहीं है। बारहों मास कीर्तन प्रणाली में अधिकतर मृदंग के साथ झांझ से ताल दी जाती है। मुख्य कीर्तनकार (कीर्तन के मुखियाजी) तथा पार्श्वगायकों (झीलनियां) हाथ से झांझ बजाते हुए कीर्तन गान करते हैं। यहाँ ध्यान रहे कि इस ताल पद्धति में खाली स्थान (दो हाथों को अलग करके बजाने की प्रथा) नहीं है। प्राचीन समय में पात अर्थात् ताली स्थान का ही महत्व था, जो हम पूर्व विवरण में बता चुके हैं; अष्टछाप के समय में यही प्रथा चालू थी और आज भी अधिकांश चालू है। किन्तु तत्पश्चात् तबला-वादन का प्रचार अधिकतर होने के कारण आधुनिक तालों के प्रभाव से हमारे कीर्तनकार भी वंचित नहीं रहे। फलत: आज हमारे कीर्तन गायकों से पूछा जाय कि चौताल, धमार, आडचौताल, सूलताल, चर्चरी और त्रिताल इत्यादि तालों को समझाइये, तो वे ताली और खाली का स्थान आधुनिक प्रचार के समान बताएँगे किन्तु झांझ बजाते हुए कीर्तन -गान में वह प्रचार से कुछ भिन्न दिखाई देता है क्योंकि झांझ में दो हाथों को अलग करके खाली बताने की चेष्टा की नहीं जाती है। तदुपरान्त झांझ में तालों के स्थान के अतिरिक्त कहीं-कहीं आघात देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यह कृत्य प्राचीन परंपरा की चलती हुई लीक है किन्तु लोग परंपरा को भूल गये हैं। हमारे अनुभव से स्पष्ट कहा जा सकता है कि झांझ बजाने की पद्धति में अधिकांश प्राचीनता दिखाई देती है। कभी-कभी झांझ में खाली स्थान पर जो कम प्रमाण में आघात किया है। जाता है वह लय की सुबद्धता के कारण होना संभावित है। अत: हमारी प्राचीन पद्धति और आधुनिक प्रणाली की समानता और भिन्नता जो ऊपर हम कह चुके हैं उसका सारांश निम्न प्रकार दिया जा रहा है।

१. **खटताल**--जिसकी १८ मात्रा हैं। आधुनिक पद्धति में मत्त ताल कहा जाता है।

२. **जति ताल**--जिसकी मात्रा-१४ हैं। यह आधुनिक दीपचंदी के समान है। तथा इस ताल में उस ताल का दूसरा खंड परिवर्तित करने पर ताल 'धमार' की उत्पत्ति होना संभावित है।

३. **अठताल**--यह ताल १२ मात्रा का है, जो आज चौताल के नाम से सुप्रसिद्ध है।

४. **मठताल**—इसकी मात्रा १० हैं। जिसका आधुनिक नाम 'सूलताल' अथवा 'सुरफागता' ताल भी है।

५. **चर्चरी**—इसकी मात्रा १० हैं। जिसका प्रचार आज कल 'झपताल' के समान हमारे मंदिरों में भी हो रहा है। यह भूलना नहीं चाहिए कि झपताल और चर्चरी के खंड अलग-अलग हैं। झपताल में २, ३, २, ३=१० और चर्चरी में ३, २ : २, ३=१० मात्रा के खंड हैं। झपताल तबले का और चर्चरी मृदंग का ताल है।

६. **पटताल**—इसकी मात्रा ८ हैं। जो आधुनिक ८ मात्रा की त्रिताल के समान होते हुए भी इसमें ताल के ६ आघात स्थान आते हैं।

७. **त्रिपुटताल**—यह ताल भी ८ मात्रा की आधुनिक तीन ताल के समान होते हुए भी इनमें ६ ताली का स्थान माना गया है। ताल और पटताल की मात्रा समान होते हुए भी ताली स्थान भिन्न है।

८. **ध्रुवताल**—मात्रा १४ हैं। जो आजकल आड चौताल के नाम से सुप्रसिद्ध है। हमारी दृष्टि से तबले पर बजती हुई ताल का नाम आड चौताल और मृदंग में बजने वाली ताल का नाम ध्रुवताल कहना सुसंगत होगा।

९. **चपकताल**—यह ताल ७ मात्रा का है। इसी ताल में तीव्रा ताल की उत्पत्ति होना संभावित है। अष्टछाप परंपरा में इस ताल में १, २ : ४, ६ मात्रा पर ताली स्थान सुप्रसिद्ध है। जो तीव्रा में १, ४, ६ मात्रा पर ताली स्थान होने के कारण चपताल में ४ खंड और तीव्रा में ३ खंड माने गए हैं। इस ताल को आज कल कोई अर्ध आड चौताल भी कहते हैं।

१०. **रूपक**—इसकी मात्रा ६ हैं। इस ताल की प्राचीनता देखते हुए इसी ताल में से आधुनिक दादरा ताल की उत्पत्ति होना संभावित है। इस ताल में १, ५ और दादरा में १, ४ पर ताली का स्थान होने से यह इसकी भिन्नता स्पष्ट होती है।

उपर्युक्त तालों का अधिक स्पष्टीकरण इसी प्रकरण में तालों के बोल मात्राएँ तथा खंड इत्यादि विवरण सहित दे चुके हैं। अत: उसे ध्यान में रखकर अष्टछाप संगीत परंपरा में यदि तालों का प्राचीन तत्त्व प्रचार में लाने का प्रयास किया जायगा तो ध्रुपद को पुनः जीवन प्राप्त होगा—यह कहना अस्थानीय नहीं है।

परिशिष्ट–१

मृदंगाचार्यों का परिचय

सम्प्रदाय में उत्तम मृदंगाचार्यों में से कुछ नामी मृदंगवादक हो गये हैं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध मृदंगाचार्यों का परिचय यहाँ देना आवश्यक है।

मृदंगाचार्य वल्लभदासजी:—संवत् १८४९ में गो. श्री. बड़े गिरिधरलालजी महाराज ने श्री वल्लभदास पखावजी को जयपुर से बुलाकर श्रीनाथजी की सेवा में नियत किया था। संवत् १८७७ में वे बड़ौदा नरेश श्रीमान गायकवाड़ सरकार के यहाँ गये थे। महाराजा के आग्रह से इन्हें लगभग चार साल तक रहना पड़ा। वहाँ से आकर वे अपने जीवन पर्यन्त संवत् १९०६ तक श्रीनाथजी के पखावज की सेवा करते रहे।

मृदंगाचार्य श्री पहाड़सिंहजी:—ये हिन्दुस्तान के मशहूर पखावजी थे तथा जोधपुर इत्यादि राज्यों के महाराजाओं से सम्मानित थे। नाथद्वारा के पखावजी वल्लभदासजी का जब बड़ौदा जाना हुआ तब संवत् १८७७ से १८८१ तक श्रीनाथजी की कीर्तन मंडली में पखावज की सेवा में रहे थे।

पखावजी शंकरलालजी:—मृदंगाचार्य वल्लभदासजी के हरिशरण होने के बाद संवत् १९०६ में ये श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में अपने पिताजी के स्थान पर नियत हुए। इनके भ्राता खेमलालजी भी मृदंग-वादन में निपुण थे।

संवत् १९११ में जामनगर के गो. श्री. ब्रजनाथजी महाराजश्री नाथद्वारा पधारे थे, आपके साथ में आदितरामजी भी थे। श्रीनाथजी के मन्दिर में शंकरलालजी का पखावज सुनकर उनके प्रति इतना सम्मान उत्पन्न हुआ कि आपने उनको राजभोग के बाद अपने निवास स्थान पर आने की आज्ञा की। तदनुसार दोपहर में श्री द्वारकानाथजी के मन्दिर में शंकरलालजी, खेमलालजी और बहुत से गुणीजन इकट्ठे हुए थे। पू. पा. श्री गोकुलोत्सवजी महाराज स्वयं श्री द्वारकानाथ लालजी भट्टजी तथा बालमुकुन्दजी के साथ उपस्थित थे तथा श्रीनाथजी के कीर्तनियाजी दौलतरामजी, बीनकार घनश्यामजी तथा नवनीतप्रियाजी के पखावजी रणछोड़जी तथा कीर्तनिया सुन्दरदासजी, गिरधरजी शिवलालजी और कीर्तनिया बालकृष्णजी के अतिरिक्त बाहर से आये हुए झाँसी के गवैये बिहारीदासजी तथा गवैये रामदासजी साधु इत्यादि गुणीजन भी उपस्थित हुए थे। पखावजी शंकरलालजी तथा खेमलालजी के पखावज-वादन के उपरांत गुजरात के सुप्रसिद्ध उस्ताद आदितरामजी के साथ मात्राओं के भेद, बोल-बांट तथा तालों के

संबंध में उत्थापन के समय तक सम्वाद हुआ था। तत्पश्चात् जाते समय गो. श्री. व्रजनाथजी महाराजश्री ने खड़े होकर शंकरलाल और खेमलाल दोनों भाइयों की पीठ ठोककर धन्यवाद के साथ शुभ आशीर्वाद देकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। इस प्रकार श्रीनाथजी की सेवा करते हुए संवत् १९५० में शंकरलालजी भगवद्शरण हुए।

पखावजी घनश्यामजी:—शंकरलाल के पश्चात् उनके पुत्र घनश्याम पखावजी को गो. श्रीमद् गोवर्धनलालजी महाराज ने श्रीनाथजी की सेवा में नियत किया। अपने पिताजी एवं काका खेमलालजी से उत्तम प्रकार की पखावज-वादन की कला और विद्या ये प्राप्त कर चुके थे। आपने अत्यन्त परिश्रम करके पखावज संबंधी सभी तरह का वर्णन शास्त्रानुसार उत्तम रीति से लिखकर तैयार किया था जिसे श्री गोवर्धनलालजी महाराजश्री की सहायता से सवत् १९६८ में "मृदंग सागर" नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया। यह ग्रंथ आपकी एक अमूल्य देन है।

पं. आदितरामजी:—पं. आदितरामजी का जन्म सं. १८७५ (ई.स. १८२९) में ब्राह्मण वंश के वैकुंठराम व्यास के घर हुआ था। नवाब आमदखान ने सं. १८९६ में तखतनशीन होने के बाद आदितरामजी से मृदंग सीखने का अभ्यास किया था।

. १८९७ में जामनगर हवेली के गो. व्रजनाथलालजी महाराज का परिचय होते ही आपको सद्भाव उत्पन्न हुआ। संगीत द्वारा ईश्वर-भजन करना यह उनका दैनिक क्रम देखकर महाराजश्री की उन पर कृपा हुई और महाराजश्री द्वारा जामनगर के युवराज जामविभाजी का मिलाप हुआ जिन्होंने तखतनशीन होने के बाद आदितरामजी को जामनगर में सं. १९०८ में आश्रय दिया।

ये मृदंग-वादन के उपरान्त गान विद्या और काव्य रचना भी करते थे। आरंभ में जूनागढ़ के नवाब के गुण-वर्णन की काव्य-रचना कर उसका गायन करते थे किन्तु जामनगर आने के पश्चात् व्रजनाथजी महाराजश्री की कृपा से सरगम, चतरंग, पदगान की रचना करने लगे और अपने धर्मगुरु और आश्रयदाता महाराजश्री व्रजनाथजी का व्रजपति तथा व्रजनाथ नामाभिधान जोड़कर श्रीकृष्ण के भक्तिमय गुणगान करने लगे और हवेली में व्रजपति के सान्निध्य में मृदंग का साथ करते रहे।

इस प्रकार सम्प्रदाय के अग्रगण्य कीर्तनकार आदितरामजी व्रजनाथजी महाराजश्री की कृपा से अपना जीवन सफल बनाकर महाराजश्री के लीला प्रवेश के बाद अत्यधिक विरह-वेदना के कारण स्वास्थ्य पर विपरीत असर होने सं. १९२६ में गोलोकवासी हुए। आपकी संगीत रचनाओं का संग्रह आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व "संगीतादित्य" नाम से प्रकाशित हो चुका था।

पं. मदनमोहनजी उपाध्याय:—आप दतिया राज्य निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। आप पाठकजी के गुरु थे। ग्वालियर के पर्वतसिंहजी और आप गुरु भाई थे।

दोनों समान कोटि के मृदंगाचार्य माने जाते थे। बनारस के श्री गोपाल मन्दिर में बहुत समय तक श्रीजी के सम्मुख पखावज बजाने की सेवा आपने की थी। मन्दिर के अधिष्ठाता गो. श्री. जीवनलालजी महाराजश्री ने आपके पास संगीत का अभ्यास किया था।

मृदंगाचार्य श्री मन्नूजी:—मदनमोहनजी के पश्चात् बनारस में सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध मृदंगाचार्य मन्नूजी गोपाल मन्दिर में वर्षों तक मृदंग की सेवा करते रहे। आप सम्प्रदाय की मर्यादा का चुस्त पालन करते थे। भीतर की सेवा करने की आपको आज्ञा थी। पू. पा. श्री जीवनलाल महाराज और गो. श्री. मुरलीधर महाराज के आप कृपापात्र थे। आपने १९३० ई. से लेकर १९५४ ई. तक "ताल दीपिका" नामक पुस्तिकाएँ चार भागों में प्रकाशित करके भारतीय संगीत की महत्वपूर्ण सेवा की है।

मृदंगाचार्य गोविन्दराव:—इनको कोई गोविन्दरामजी भी कहते थे। इन्दौर रियासत के वादनाचार्य सखारामजी बुआ से मृदंग की शिक्षा प्राप्त की थी। अपने समय के उच्चतर कोटि के गिनती के मृदंगाचार्यों में आपकी गणना होती थी। बुरहानपुर (खानदेश) में आपका निवास स्थान था। ईश्वर भक्ति के प्रति आपको श्रद्धा थी। बुरहानपुर के निवास दरम्यान वहाँ के वैष्णव मन्दिर (हवेली) में रोज यथासमय जाकर प्रभु सम्मुख पखावज बजाने की सेवा करते थे। आपको नाथद्वारा के तिलकायत गो. श्री. गोवर्धनलालजी महाराजश्री से ब्रह्म संबंध दीक्षा प्राप्त हुई थी। वैष्णव सम्प्रदाय के मृदंगाचार्यों में आपकी गणना होती थी। अहमदाबाद में सं. १९५५ में अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय कीर्तन संगीत सम्मेलन में आपका कार्यक्रम प्रभावशाली रहा था। गुरुजी पं. वाडीलालजी कहते थे कि मेरे परिचित पखावजियों में गोविन्दराम जैसा लयदार पखावजी मैंने कोई देखा नहीं है। आपके शिष्यों में बुरहानपुर के 'कृष्णदासजी' वैष्णव सुप्रसिद्ध हैं।

मक्खन पखावजी:—सम्प्रदाय के मन्दिरों में अधिकतर ब्रज के कोरिया जाति के पखावजियों की सेवा प्रशंसनीय है, जिनमें सर्वश्रेष्ठ नामी पखावजी 'मक्खनजी' की पखावजी उस समय के वृद्ध लोग आज भी याद करते हैं। नाम जैसा ही आपका मुलायम हाथ मक्खन जैसा था। पिछले वर्षों में बम्बई के माधवबाग मन्दिर में कुछ समय तक पखवाजी की सेवा करते थे। एक दिन मेरे साथ की हुई पखावज की संगत आज भी मेरे कर्ण पट से दूर नहीं है। गत शताब्दी में उपर्युक्त जो नामी मृदंगाचार्य हो गये हैं उनमें से श्री मक्खनजी, श्री गोविन्दरामजी तथा श्री मन्नूजी को सुनने का लाभ लेखक को प्राप्त हुआ था। तदुपरान्त मथुरा का छीद्दा तथा छट्टनलाल पखावजी, ग्वालियर के माधोसिंग, विजयसिंग एवं इन्दौर के मृदंगाचार्य इत्यादि जिन्होंने सम्प्रदाय की सेवा की है, वे भी उल्लेखनीय हैं। तदुपरान्त आज के सुप्रसिद्ध मृदंगाचार्य श्री पुरुषोत्तमजी, जो मेरे मित्र हैं, वर्षों से सुनने का ही नहीं, साथ-संगत का भी लाभ मिलता रहा है जो अपने पिताजी के स्थान पर श्रीनाथजी के पखावजी की सेवा में सेवा

करने के बाद दिल्ली अकादमी में नियुक्त हुए थे। हाल निवृत्त होकर फिर नाथद्वारा में सेवा कर रहे हैं।

कीर्तनिया

गत शताब्दी के गोलोकवासी कीर्तनकारों को सुनने का ही नहीं किन्तु उनके सम्पर्क से प्रेरणा और परंपरा का जो कुछ अनुभव प्राप्त होता रहता था, ऐसे आदरणीय कीर्तनकारों के नाम इस प्रकार हैं:–

श्री गंगादासजी मुखिया, श्री गोविन्ददासजी मुखिया, श्री हरनाथजी, श्री मन्नालालजी, श्री छूररीजी (नाथद्वारा), श्री मन्नालालजी मुखिया, श्री छोटेलालजी, श्री किशनदासजी, श्री कन्हैयालालजी बीनकार (कांकरोली), श्री चन्दनजी चौबे, श्री गनपतजी, श्री शिवकुमारजी, श्री कुंदनस्वामी (मथुरा), श्री मंगलदास गांधर्व, श्री झीणाभाई गांधर्व, श्री गोरधनदास गांधर्व, श्री भोगीलालजी, श्री चुन्नीलालजी (अहमदाबाद), श्री सुन्दरलाल गांधर्व, श्री कीकाभाई गांधर्व (बड़ौदा), श्री चुन्नीलाल गांधर्व (सूरत) श्री तुलजारण गिरनारा, श्री त्रिकमदासजी (बम्बई) लेखक के पिताश्री छबीलदास नायक (पाटन), श्री शंभुलाल नायक, श्री माधवलाल डोसाभाई शेठ (वड़नगर वाले), श्री मगनलाल नायक (बिसनगर), श्री नारायणदासजी (बुरहानपुर) श्री किशनदासजी अर्थात् मलिया तथा श्री वल्लभदास बापोदरा (पोरबंदर), श्री भगवतीप्रसाद भट्ट (धांगद्रा), श्री नटवरप्रसाद (वीरमगाम), ।

तदुपरान्त गत शताब्दी के अवेतनीय गोलोकवासी कीर्तनकारों में से श्री विट्ठलदासजी शाह (बम्बई, पाटन), शेठ श्री जमनादासजी जरीवाला, शेठ श्री हिम्मतलालजी (हालोल), श्री ब्रजवल्लभभाई शास्त्री (खेड़ा), श्री काशीरामजी शास्त्री (मांगरोल), का भी स्मरण करना यहाँ सार्थक होगा।

परिशिष्ट–२

हवेली संगीत

हरिराय युग में कह चुके हैं कि विधर्मियों के उपद्रव से व्रजमंडल से सम्प्रदाय के सर्वतोधिक स्वरूप श्री गोवर्धनधरण तथा सप्त पीठों के निधि स्वरूपों को भिन्न-भिन्न रियासतों में पधराये गये और वहाँ मूर्तिपूजक हिन्दू धर्माभिमानी राजाओं ने सभी प्रकार की सुविधा के साथ श्रद्धापूर्वक आश्रय दिया। धीरे-धीरे महालों जैसे मन्दिर भी बने तथा मन्दिर के अधिपति गोस्वामी महाराजश्रीओं के प्रभाव से प्रभावित होकर मन्दिरों के निभाव के लिये बहुत से राजाओं ने जमीन-जागीर भेंटकी, सेवक भी बनने लगे।

उदेपुर के महाराजा ने नाथद्वारा के तिलकायत महाराजश्री को नाथद्वारा सहित अन्य ३६ गाँव तथा कांकरोली ततीय पीठ के महाराजश्री को कांकरोली सहित २५ गाँव भेंट करके इन गाँवों को स्वतंत्र रियासत के अधिपति बनाकर सर्वाधिकार प्रदान किये।

अष्टछाप के संस्थापक श्रीमद् विट्ठलेश्वर के प्रभाव से सम्राट अकबर शाह द्वारा गोकुल और आसपास के बक्षीस किये हुए गाँवों का उल्लेख सम्प्रदाय के इतिहास में सुप्रसिद्ध है। वल्लभ वंश की प्रभावशाली प्रतिमा की परंपरा के कारण उदेपुर, जैपुर, जोधपुर, किशनगढ़, कोटा, इन्दौर, जामनगर, जूनागढ़ इत्यादि राज्यों के महाराजा का सम्पर्क दिन प्रतिदिन बढ़ता रहा। राज्यों के आश्रित गायक-वादकादि प्रसिद्ध कलाकार गोस्वामी महाराजों के यहाँ प्रसंगानुसार संगीत सुनाने को आया करते थे। अष्टछापीय परंपरा के अतिरिक्त इस समय के अन्य प्रचलित घरानेदार चीजों का गायन सुनने का शौक बढ़ता रहा। यही नहीं पसंदगी के रागों की चीज़ों को अपनी संग्रह पोथिओं में लिखवा लेते थे जिनमें अन्य रागों में गाये हुए सम्प्रदाय के द्रुपदों का समावेश भी किया जाता था, जैसे कांकरोली के संगीतज्ञ गो.श्री. द्वितीय व्रज भूषण जी महाराजश्री के समय की संग्रह पोथी में प्रचलित अन्य १०-१५ रागों में द्रुपदों का उल्लेख प्राप्त होता है। तदुपरान्त भक्त नरसिंह की रचनाओं के पद भी लिखे हुए हैं। श्री व्रजभूषण महाराज का समय सं. १७६५ से सं. १८३३ तक का है। आपके श्रीहस्त से लिखी गयी इस बृहद् पोथी में सं. १८१० का उल्लेख किया गया है। किन्तु यह मानना नहीं चाहिये कि पोथी में लिखे हुए सभी राग सम्प्रदाय में गाये जाते हैं क्योंकि वे राग और नरसिंह आदि भक्तों के पद अपनी पसंदगी के होने से वे अन्य समय में सुना करते थे।

भक्त नरसिंह के पद आपको ही नहीं किन्तु श्री गोकुल प्रभु से लेकर विक्रम की १९वीं शताब्दी तक के जो गोस्वामी महाराज गुजरात, सौराष्ट्र में पधारते थे, वे सभी बालक भक्त नरसिंह के भक्तिमय पदों का गान सुना करते थे। नरसिंह के पदों का परंपरागत रागों में गान करनेवाले ब्राह्मण लोगों को हवेली संगीत के निष्णात गोस्वामी महाराजश्रीओं का आश्रय मिलने पर ये मन्दिरों में कीर्तन की सेवा में रहने लगे। दूसरी ओर भवाई के गायक-वादक, नायक (त्रागाला ब्राह्मण), गांधर्व सेवक जिसकी चर्चा हम पूर्व कर चुके हैं, उमेंमें से कुछ लोगों ने वैष्णवी दीक्षा लेकर मन्दिरों की कीर्तन सेवा को अपना व्यवसाय बना लिया था।

श्री हरिरायजी के समय पश्चात हमारी कीर्तन परम्परा के गायक-वादक तीन विभाग में दृष्टिगत होते हैं–

(१) राजस्थान-मध्यप्रदेश
(२) व्रजमंडल (उ.प्र.)
(३) गुजरात-सौराष्ट्र

राजस्थान तथा व्रजमंडल में महाबनिया, सनाढ्य तथा रासधारी ब्राह्मणादि कौम के कीर्तनीया कीर्तन की सेवा में रहने लगे। इसी प्रकार गुजरात-सौराष्ट्र में गिरनारा तथा अन्य ब्राह्मण एवं नायक, गांधर्व इत्यादि मन्दिरों में कीर्तन की सेवा में रहने लगे।

संगीत क्षेत्र में जैसे ग्वालियर को संगीत का मूल घराना माना जाता है वैसे अष्टछापीय परंपरा का मूल केन्द्र गोवर्धन माना जायगा। भारतीय संगीत के भिन्न-भिन्न घराने लगभग १५० साल से प्रचार में आने लगे। इसी दरम्यान हवेली संगीत के उपर्युक्त बताये गये तीन स्थानों में अधिक प्रचार होता रहा। वास्तव में गोबरधारी (गोबरहारी) बानी की द्रुपद शैली एक ही होते हुए भी समयान्तर तीनों विभागों में कुछ न कुछ शैली भेद दृष्टिगत प्रचार में आने लगा। नाथद्वारा-कांकरोली विभागों में कुछ न कुछ शैलीभेद दृष्टिगत प्रचार में आने लगा। नाथद्वारा-कांकरोली आदि घराने में गोबरहारी बानी की कुछ झाँखी परंपरागत होती रही। इस शैली में तान-आलाप इत्यादि का प्रयोग किया नहीं जाता केवल मूल बंदिश के अनुसार सीधे-सादे ढंग से गाने की प्रथा है। यहाँ अन्य विभागों की अपेक्षा कोई परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता किन्तु कुछ मार्मिक लोगों का कहना है कि आजकल कीर्तनगान शीघ्रता से गाये जाने के कारण ताल, राग तथा महानुभावियों की वाणी के शब्द यथा समय समझ में आना मुश्किल हो जाता है।

मथुरा-बनारस विभाग के घरानों की कीर्तन गायकों में कहीं-कहीं ठुमरी एवं ख्याल अंग की कुछ छाया प्रदर्शित होती रहती है तथा विलंबित गति से गाने का कुछ व्यवहार प्रचलित होने लगा है।

गुजरात-सौराष्ट्र की कीर्तन शैली लगभग एकसी है। यहाँ की कीर्तन लैशी में आजकल कीर्तन के शब्दों के उठाव पहले तार सप्तक में मध्यम या पंचम स्वर की टीप लगाते हुए दिखाई देते हैं तथा छोटी-छोटी तान मूर्कया लेने का व्यवहार भी प्रचलित होता रहा है। यह कृत्य योग्यता अनुसार और सुसंगत अंग से बताना मुश्किल है।

उपर्युक्त तीनों विभाग एवं अन्य प्रांतों में भक्तिमार्ग के प्रचारार्थ किये हुए प्रवासों के फलरूप अनेक मन्दिरों में स्थापित हो चुके थे जिनमें मुखिया, भीतरिया, कीर्तनिया इत्यादि अधिक संख्या में सेवक टहलेवाओं का पालन-पोषण होता रहता था। आठ घंटे की प्रात: और सायं सेवा प्रणाली के समय बीच चार घंटे का भाव पूर्वक कीर्तन गान करते हुए उस समय के कीर्तनकारों को हमेशा का रियाज होता रहता था। इस प्रकार के रियाज से एवं महाराजश्रीओं के मार्गदर्शन से अच्छे सुरीले और और तालज्ञ कीर्तनकार आसानी से तैयार होते थे।

केवल तृतीयगृह—कांकरोली तथा षष्ठमगृह—सूरत की छपी हुई कीर्तन प्रणाली को देखने से ज्ञात होता है कि शीतकाल-उष्णकाल, चतुर्मास तथा उत्सव-त्यौहार इत्यादि की प्रणाली अनुसार के गाये जाने वाले हजारों पदों के शब्द, लय, ताल-रागादि की ओर ध्यान रखने के उपरान्त भिन्न-भिन्न बंदिशों को कंठस्थ रखने की कला को ग्रहण करना आसान नहीं था। वर्षों की तपश्चर्या के बाद यह कला सिद्ध होती थी।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन संगीत को हवेली संगीत कहने का रिवाज अन्तिम ५० वर्षों से ही प्रचार में आने लगा। सौराष्ट्र में पुष्टिमार्गीय मन्दिर को वर्षों से हवेली कहने का रिवाज है। इस शब्द के प्रचार से धीरे-धीरे पुष्टिमार्ग के सभी मन्दिरों के लिये यह शब्द पर्यायवाचक बन गया। अन्य मन्दिरों जैसे पुष्टिमार्गीय मन्दिरों को घूम्मट या शिखर-बंद बनाये नहीं जाते। किन्तु श्रीमंतों की हवेलियों की तरह उसकी रचना होने से हवेली और हवेली में गाये जाने वाले अष्टछापीय कीर्तन संकीत को हवेली संगीत कहना सुसंगत होगा।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध श्री के. का. शास्त्रीजी ने सन १९३८ में बुद्धिप्रकाश मासिक में हवेली-संगीत शीर्षकान्तर्गत विस्तारपूर्वक लेख प्रसिद्ध किया था। तभी से हवेली संगीत नाम क्रमश: प्रचार में आने लगा। तत्पश्चात् आकाशवाणी के केन्द्रों से हवेली संगीत नाम से पुष्टिमार्गीय कीर्तनों का प्रसारण होता रहा है। फलत: आज अधिकतर लोग अष्टछापीय परंपरा के संगीत को हवेली संगीत नाम से पहचानने लगे हैं। पुष्टि सम्प्रदाय का सर्वप्रथम बना हुआ गोवर्धन पर्वत का मन्दिर था जिसमें सं. १९५६ में श्रीनाथजी की सेवा का आरंभ हुआ था। इस सर्वप्रथम मन्दिर से लेकर आज तक के सभी मन्दिरों हवेलियों से मिलते-जुलते बने हुए हैं।

अधिकतर मन्दिरों की रचना निम्न आकृति अनुसार होती रहती है–

मंदिर–हवेली की रचना

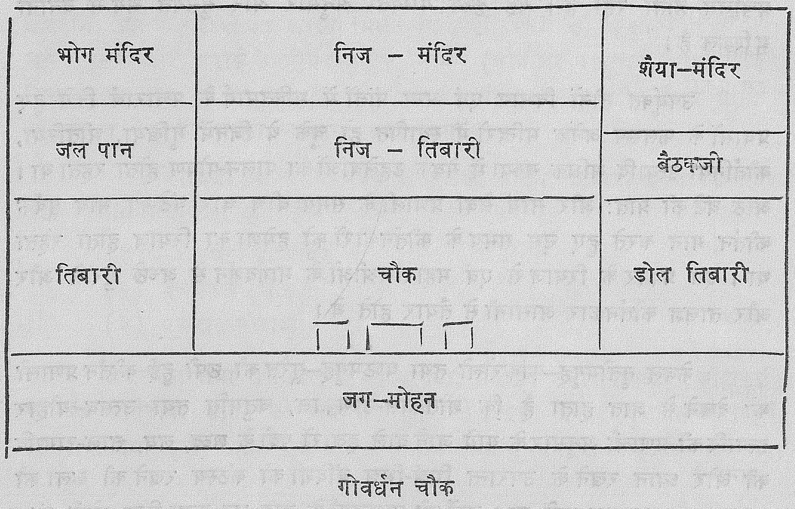

उपर्युक्त आकृति के उपरान्त स्थल की अन्य अनुकूलता अनुसार रसोईघर, बालभोग, दूधघर, पानघर, जलघर तथा तोषाखाना इत्यादि की व्यवस्था की जाती है।

अन्य सम्प्रयदायों में भगवान का प्रतीक होता है। इसलिये पूजा, अर्चना, आव्हान आदि किया जाता है। पुष्टि सम्प्रदाय में ईश्वर का प्रतीक नहीं किन्तु साक्षात बाल प्रभु की भावना की जाती है। अतः उनका मन्दिर नहीं परन्तु निवास स्थान माना जाता है। भावना की दृष्टि से नन्दालय यानी नन्दरायजी के आवास की भावना की जाती है। इस मान्यतानुसार हवेली संगीत नाम का उद्भव सुसंगत कहा जायगा। पहले पुष्टिमार्गीय कीर्तन संगीत था, जो अष्टछाप कीर्तन संगीत के नाम से पहचाना जाता था। इस मान्यता के आधार पर 'बुद्धिप्रकाश' मासिक में १९३८ में श्री के. का. शास्त्री का हवेली-संगीत शीर्षक का एक लेख प्रसिद्ध हुआ था। पुष्टिमार्गीय युवक परिषद् बम्बई की ओर से ई. सं. १९३९ में हवेली-संगीत, नाम के स्थान पर 'पुष्टिमार्गीय कीर्तन प्रकार' नामकरण से पुस्तिका प्रगट की गई थी।

पुष्टिमार्गीय कीर्तन-संगीत तथा हवेली-संगीत ये दोनों नामकरण सैद्धान्तिक दृष्टि से समान होते हुए भी व्यापक दृष्टि से यदि कोई भेद निकालना चाहे तो (१) उपर्युक्त बताई गई आकृति के अनुसार के समग्र भागों में सेवा की प्रणाली के अनुसार गाये जाने वाले परंपरागत कीर्तन गान के अतिरिक्त (२) गोवर्धन चौक;

महाराजश्री की बैठक इत्यादि स्थानों में जन्मोत्सव इत्यादि प्रसंगोपात्त जो धोल, धवल, हींच-हमचो, गरबा इत्यादि जो वैष्णव स्त्री-पुरुष इकट्ठे होकर नरसिंह, वल्लभ, दयाराम, लाला लहरी, चन्द्रसखी, सोभामाजी निजजन इत्यादि की रचनाओं का गान करके जो आनंदोत्सव मनाते हैं इसका भी हवेली के संगीत के अन्तर्गत समावेश हो सकता है, किन्तु दोनों प्रकार को (१) परंपरागत शास्त्रीय संगीत तथा (२) सुगम संगीत इस प्रकार के भेद भिन्न रखना आवश्यक है।

अष्टछाप संगीत का भी घराना है। आकाशवाणी ने भी हवेली संगीत को सुबद्ध संगीत में स्थान दिया है, जिसमें इन दोनों भेदों की स्पष्टता होना आवश्यक है। ख्याल, द्रुपद के घरानों की गायकी में और सुगम संगीत के प्रकार की गायकी में आवाज निकालने की तरह भिन्न है। एक में परंपरा की निश्चित की हुई स्वर रचना शास्त्रीय नियमों से सुबद्ध है, जो दूसरे में ऐसा कोई नियम दिखाई नहीं देता। वाग्गेयकार भगवद् भक्तों के शास्त्रीय राग-तालादि में गाये गुणानुवाद को पद कहने का प्राचीन रिवाज है। सम्प्रदाय के सभी कीर्तन संग्रहों में विविध प्रकार के कीर्तन 'पद' संज्ञा से विभाजित किये गये हैं। पद के संबंध में यहाँ कुछ विचार करना ठीक होगा।

पदः—पद संज्ञा का सर्जन विक्रम की प्रथम शताब्दी के पश्चात् होना माना जाना है। कुछ भिन्न मत इस प्रकार हैं:—

(१) पद्य का संक्षिप्त स्वरूप जिसे गद्य विभाग से अलग रखने के लिए एक इकाई के रूप में हो उसे 'पद' कहते हैं।

(२) जिसकी रचना सरस, ललित, मधुर, कोमलकान्त पदावलियों से युक्त, संगीतमय, ताल और लय से बद्ध, एक विचार से पूर्ण एवं भावयुक्त हो, उसे 'पद' कहते हैं। काव्यों को भी अष्टछाप के पूर्व भक्त नरसिंह के काव्यों को भी "पद" संज्ञा दी गयी है। किन्तु यथार्थ स्वरूप में अष्टछाप के समय से अर्थात् १६वीं शताब्दी के आरंभ से उसका प्रचार होना सर्वसम्मत माना जाता है।

वाणीः—वास्तव में पद, वाणी और कीर्तन का एक ही स्वरूप होते हुए भी ये तीनों शब्द प्रचार में दिखाई देते हैं। अष्टसखा के पद के अतिरिक्त अष्टसखाओं की वाणी (बानी) भी कही जाती है। राधा-वल्लभ तथा गौडिया सम्प्रदाय में पदों की अपेक्षा वाणी कहने का अधिक रिवाज है। इस वाणी को "पद" संज्ञा से संबोधन करने का व्यवहार उपर्युक्त की गई व्याख्यानुसार समझा जाता है।

गीतः—पद को भी कोई गीत कहते हैं किन्तु प्रचार की दृष्टि से देखा जाय तो गीत का सुगम संगीत में समावेश होना सुसंगत कहा जायगा। संगीत शास्त्र में गीत के ६ लक्षण बताये गये हैं। जिनमें ईश्वर स्तुति आदि भाव प्रकट होते हों, उसको भक्ति गीत कहे जाते हैं। गीत में शब्द और स्वर का पूर्ण साम्य होना चाहि

जिनमें किसी प्रकार का तान, आलाप होना आवश्यक नहीं है। किन्तु गीत में शब्द और स्वर का भाव सुन्दर और मनोरंजक होना चाहिये। इस प्रकार के आजकल भक्ति-गीत, भजन-गीत, ठुमरी-गीत, लोक-गीत, गरबा, गरबी तथा अन्य भाव गीत जो सुनने में आते हैं, ये सभी गीत के प्रकार माने जाते हैं।

परिशिष्ट–३

पुष्टि-कीर्तन संगीत के अभ्यासियों को मार्गदर्शन

(१) सम्प्रदाय की कीर्तन परंपरा में नित्य-क्रम, जन्म-बधाई और त्यौहारोत्सव तथा ऋतु-ऋतु अनुसार नियत किये हुए रागों में गाये जाते हैं।

(२) ऋतु प्राधान्य रागों के आरंभ करने से पहले आलापचारी (आलाप) की जाती है।

(३) इस परंपरा के गीतों को कीर्तन, पद या वाणी कहने का रिवाज है।

(४) इस घराने की परंपरा ध्रुपद शैली की है।

(५) प्रत्येक पद में कम से कम दो तुक यानी चार चरण होते हैं जो क्रमशः स्थायी, अन्तरा, संचारी व आभोग कहे जाते हैं।

(६) दो तुक से अधिक चरण के भी पर्याप्त कीर्तन हैं। अधिक की सभी तुक संचारी और आभोग की समान गायी जाती है।

(७) पद के प्रत्येक चरण दो, तीन या चार आवर्तनों से बने हुए होते हैं।

(८) काव्य की भाषा, भाव और इस वर्णन के अनुरूप स्वर और शब्दोच्चार का झोक होना चाहिये।

(९) कीर्तन के शब्दों में ह्रस्व-दीर्घ के उच्चार की ओर ध्यान रखना आश्वयक है।

(१०) प्रत्येक पद परंपरागत बंदिश के अनुसार नियत राग और ताल में गाये जाने चाहिये।

(११) जन्म-बधाई तथा त्यौहारोत्सव के दिनों में मंगला-दर्शन के बाद शयन पर्यन्त झांझ पखावज के साथ कीर्तन गाये जाते हैं।

(१२) नित्य-क्रम में तानपुरा, मृदंग और सारंगी (आजकल हारमोनियम) का उपयोग किया जाता है।

(१३) होरी के दिनों में (वसंत पंचमी से डोल तक), झाँझ, डफ, उपंग, किन्नरी का वादन मृदंग के साथ किया जाता है।

(१४) कीर्तन के तालों में लय के तीनों प्रकारों का प्रयोग किया जाता है। लय की गति का प्रमाण इस प्रकार दृष्टिगत होता है।

(अ) द्रुतलय मात्रा-१ का प्रमाण १/३ सेकन्ड
(ब) मध्यलय मात्रा-१ ,, ,, १ सेकन्ड
(क) विलंबित लय मात्रा १ का प्रमाण १$\frac{1}{2}$ सेकन्ड

इससे अधिक विलंबित सम्प्रदाय की परंपरा में दिखाई नहीं देता।

(१५) मध्यरात्रि से लेकर दिन के मध्यान्ह तक गाये जाने वाले रागों को प्रातः सेवा की प्रणाली में तथा मध्यान्ह से लेकर मध्यरात्रि तक के गाये जाने वाले रागों को सायं-सेवा प्रणाली में समावेश किया गया है।

(१६) प्रातःकाल के संधिप्रकाश राग मंगला समय तथा सायं संधि प्रकाश राग भोग तथा संध्यार्ति समय गाये जाते हैं।

(१७) शीतकाल में कानड़ा राग के विविध प्रकार तथा उष्णकाल में सारंग के विविध प्रकार और चातुर्मास में मल्हार के प्रकार विशिष्ट रूप से गाये जाते हैं।

(१८) सम्प्रदाय की दीक्षा किसी भी श्रीमद्वल्लभ वंश के बालक से ग्रहण करने के पश्चात ही श्रीजी के सम्मुख कीर्तन गाने का अधिकार प्राप्त होता है।

(१९) गत शताब्दी पूर्व के लहिया के लिखित कीर्तन संग्रहों तथा कीर्तनियाओं की परंपरागत कीर्तन-गान की पोथी में जो कीर्तन संग्रहित किये गये हैं उसके अतिरिक्त किसी भी पद-गान की रचना प्रभु सम्मुख गाने की चेष्टा सम्प्रदाय की प्रणाली में नहीं है।

(२०) निम्नलिखित रागों को सीखने के पहले वह राग जिस ठाट में से उत्पन्न होता है उसी ठाट के स्वरों में अलंकार पलटाओं का ठीक अभ्यास करना चाहिए। बाद में राग के स्वर विस्तार का रियाज करना भी आवश्यक है। जिसके लिये हमारे 'संगीत सुबोधिनी' ग्रन्थ का अवलोकन कीजिये। निम्नलिखित राग-ताल का अभ्यास आवश्यक है–

प्रथम श्रेणीः–

रागः––(१) भैरव (२) विभास (३) बिलावल (४) आसावरी (५) सारंग (६) पूर्वी (७) काफी (८) इमन (९) केदार (१०) बिहाग।

तालः––(१) आदिताल (आठ मात्रा की त्रिताल) (२) चंपकताल (अर्ध आड़ा चौताल) (३) चर्चरी (झपताल अंग की) (४) धमार (५) चौताल (६) दादरा।

द्वितीय श्रेणी:–

रागः––(१) रामकली (२) मालकौंस (३) धनाश्री (४) सारंग के चारों प्रकार (५) नट (६) हमीर-हमीर कल्याण (६) सोरठ (७) कान्हरा (८) गौरी (९) खमाज।

तालः––(अ) चौताल, धमार, चर्चरी, आदि ताल, अर्ध आड़ा चौताल ये सभी तालों की चलती (चलन)।

(ब) धीमा त्रिताल, झूमरा, दीपचंदी, आड़ा चौताल, तीव्रा, चर्चरी, रूपक के प्राचीन प्रकार का ज्ञान।

तृतीय श्रेणी:–

रागः––(१) ललित (२) देवगंधार (३) पंचम (४) परज (५) जेतश्री (६) बिलावल के और सारंग के सभी प्रकार (७) वसंत तथा मल्हार के सभी प्रकार तथा उपर्युक्त लिखित रागों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में दिये हुए सभी रागों का ज्ञान।

(२१) द्रुपद गान में चौताल, सूलताल, तीव्रा तथा चर्चरी वगैरह तालों का समावेश किया जाता है।

(२२) सुरीले एवं प्राचीन परंपरा के कीर्तनकारों से कीर्तन संगीत सुनने का आग्रह रखना चाहिये।

(२३) कीर्तन गान में लय की (विलंब, मध्य एवं द्रुत) गति रखने का आधार सेवा समय के अवकाशानुसार सुसंगत होना चाहिये।

(२४) (अ) झाँझ, पखावज के साथ गाये जाने वाले बधाई, त्यौहार के कीर्तन गान में पद की अन्तिम तुक चलती में गाई जाती है।

(ब) श्रीजी को आर्ति आने के समय में चलती में गान किया जाता है।

(२५) (अ) आठ या सोलह मात्रा की त्रिताल में गाये जाने वाले कीर्तन की चलती चार मात्रा के आधुनिक केरवा के अनुसार ली जाती है। (ब) चौताल, चर्चरी, सात या चौदह मात्रा का आड़ा चौताल तथा धमार ताल की चलती में उसी ठेकों को द्रुतलय में बजाते हैं तथा ठेका में कायदा, टुकडे एवं तोड़ा के प्रकार भी बजाए जाते हैं।

(क) धमार ताल के त्रिताल की चलती में बजाने का भी रिवाज दिखाई देता है।

परिशिष्ट-४

कीर्तन मर्मज्ञ गोस्वामी महाराजों का परिचय

सम्प्रदाय के गोस्वामी महाराजश्रीओं द्वारा भिन्न-भिन्न स्थलों पर मन्दिरों की स्थापना होती रही। मन्दिरों में हवेली संगीत का गान करने वाले व्यवसायी और अव्यवसायी वैष्णव वर्ग की संख्या भी बढ़ने लगी। मन्दिरों के अधिपति महाराजश्रीओं का राज्यों से सम्पर्क बढ़ने के कारण घरानेदार गायक-वादकों का संगीत सुनने का व्यवहार भी बढ़ता रहा। अष्टछापीय संगीत का महाराजश्रीओं को बाल्यकाल से ही श्रवण करने का संस्कार रहा करता था। तदुपरान्त अन्य गायक-वादक, नृत्य-नाट्य तथा भवाईक इत्यादि के कलाकारों का संपक बढ़ जाने से संगीत प्रिय गोस्वामी महाराजश्री स्वयं उच्चकोटि के संगीत के ज्ञाता बन चुके थे। इस प्रकार के संगीतज्ञ गोस्वामी महाराजश्रीओं ने सम्प्रदाय के संख्याबद्ध कीर्तनकारों को तथा अन्य कलाकारों को भी योग्यतानुसार भेंट-सौगात इत्यादि से प्रसन्न रखते थे। अष्टछापीय परंपरा का प्रचार करने वाले ऐसे संगीतज्ञ महानुभाव गोस्वामी महाराजश्रीओं में से उदाहरणार्थ कतिपय गोस्वामी महाराजश्रीओं का परिचय कराना उचित समझता हूँ जिनमें आधुनिक युग के पूर्वकाल के प्रथम गो. श्री. गोपाललालजी महाराज के समय से यह आरंभ किया जा रहा है, जिन्होंने भवाईवंशों के कलाकारों को उत्तेजन देकर गायन-वादन और नृत्य-कला को प्रोत्साहन दिया था।

संवत् १६७७ में श्री गुसांईजी के पौत्र गो. श्री गोपाललालजी महाराज ने सौराष्ट्र की यात्रा की, तब बांकानेर, हलवद होकर जब वठवाण पधारे थे तब वहाँ के राजा पृथ्वीसिंग (पृथ्वीराज) और उनके कौटुम्बिक एवं संबंधीजन तथा पांचाल प्रदेश के अनेक राजपूत गरासिया लोग भी आपके सेवक थे। राजा भमावद सेवा और स्मरण में ही मग्न रहता था और राज्य का कारोबार बरवाला वाले घेलाशा के पिता माधाशा नामक वणिक सेठ संभालते थे। एक समय मच्छकांठा (मोरबी) के तरमाला (भवैया) हीरजी व्यास अपनी भवाई मंडली लेकर वठवाण आये थे। वे राज-भवैया कहलाते थे। उनका कार्यक्रम दरबारगढ़ में आयोजित किया गया। राजा वैष्णव होने से नायक ने भक्त राजा अम्बरीष का आख्यान भवाई वेशों में व्यक्त किया। प्रेक्षकों की ओर से बहुत इनाम प्राप्त हुए। नायक ने पृथ्वीराज के पास आकर नमन किया तब राजा ने राजरीति के अनुसार जरी-कीनखाब का पोषाक तथा ५०० कोरी का

इनाम देकर कहा कि "यह पाग-पोषाक पहनकर किसी को मुजरा करना नहीं क्योंकि वठवाण के राजा की पाग प्रभु के सिवा किसी को झुकती नहीं।" नायक ने कहा कि महाराज हमारे पूर्वज में दयाराम वैद्य हुए थे। उनका भवाई में वैष्णव का वेश धारण करते ही उनके शरीर में से चार हत्याएँ दूर हट गयीं। श्री गुसांईजी के शरण जाकर उनके अनन्य सेवक हुए थे। इस प्रकार के हमारे परंपरागत प्रभाव को जानता हूँ, इसलिये मैं सौगंध से कहता हूँ कि मेरा प्राण जाने पर भी आपकी पाग आदि वेशभूषा अणनम रहेगी।

पृथ्वीराज की इस टेक की खबर कर्णोपकर्ण दिल्ली तक पहुँच चुकी थी।

कुछ समय बाद यही भवाई मंडली प्रवास करती हुई दिल्ली आ पहुँची, जिनकी प्रशंसा राज के खासदारों द्वारा जहाँगीर ने सुनकर 'दीवाने खास' में खेल रखने का फरमान किया। संगीत कला एवं नृत्यादि से खुश होकर उनके नायक को स्वर्ण पदक तथा एक अशरफी (सिक्का) का इनाम दिया। पश्चात नायक ने जो वेश परिधान किया था वह उतारकर अपनी रोजाना की पाग पहनकर बादशाह के सामने आकर कदम-पोष करके सिर झुकाकर मुजरा किया। यह देखकर शहनशाह जहाँगीर क्रोधित हुआ और उनके खासदार जलालुद्दीनखाँ ने इस बेअदबी वर्तन के कारण नायक को धमकी दी। नायक पैरों में झुककर कहने लगा कि मेरी बेअदबी जैसा वर्तन लगा हो तो यह गुलाम आपकी क्षमा चाहता है क्योंकि यह पाग प्रभुभक्त पृथ्वीराज ने भेंट की थी तब मैं वचनबद्ध हुआ था कि प्राण जाने पर भी यह पाग पहनकर किसी को नमन नहीं करूँगा।[*]

इस प्रकार उस समय लोक समाज में भवाई और भवाइओं को आदरपात्र मानते थे। सुसंस्कृत और उच्चकोटि की इस भवाई और भवैया के संबंध में निम्न-प्रकार संक्षेप में माहिती देना आवश्यक समझता हूँ।

श्री गिरिधरलालजी महाराज (भवाईवाले)

श्री गिरिधरलालजी महाराज (भवाईवाले) का जन्म सं. १७४५ में हुआ था। आपके पितृचरण का नाम श्री व्रजभूषणजी महाराज था, जिन्होंने गोकुल से द्वारकाधीश को आसोटिया (कांकरोली) में पधराये थे। आपको संगीत का अत्यन्त शौक था। अष्टछापीय कीर्तन परंपरा के भी आप ज्ञाता थे। आपके पास गायक-वादक, लोग संगीत सुनाने के लिये आया करते थे।

किन्तु तृतीय गृह की गादी पर बिराजित होने के बाद गायन-वादन, नृत्य और नाट्य इन सभी कलाओं का जिनमें दर्शन होता था उनका इस प्रकार की भवाई की ओर ध्यान गया। फलतः भवाई के इस निजी शौक को प्रभु को निवेदन कर भक्ति

---

[*] *"वैपूवानर" मासिक पृष्ठ २४-२६ अंक जान्यु. फेबु. सन १९६२*

का एक उत्तम साधन बना दिया। जिसका उल्लेख कांकरौली का इतिहास पृष्ठ ५७ पर से निम्न प्रकार उद्धृत किया जाता है––

"तिलकायित होने के बाद गिरिधरजी महाराज ने ठिकाना और द्वारकाधीश की सेवा का भार संभाला। प्रभु को इन्होंने विविध लाड़ लड़ाये। इन महाराज को भवाई का खेल देखने का बड़ा शौक था। जब कोई भवाई का खेल करने वाला कांकरौली आता, तो ये उसका खेल देखकर उसे अच्छा पारितोषिक प्रदान करते थे। इसी शौक के कारण आगे चलकर इनका नाम भी "भवाईवाले गिरिधरलालजी" पड़ गया। कहते हैं कि इस खेल के व्यसन में बहुत-सा द्रव्य खर्चकर देने के कारण ठिकाने के कर्मचारी और सगे-सम्बन्धी इनसे बहुत कुछ कुढ़ने लगे थे। विनय करने पर भी जब इस पर इन्होंने ध्यान नहीं दिया, तो सब लोगों ने जाकर नाथद्वारा के तिलकायित श्री दामोदरजी महाराज से इसकी शिकायत की, और कांकरौली आकर गिरिधराललजी को सम्बोधित करने के लिये उनसे विनय की। वे वृद्ध थे, अतः मनुष्यों को उनके कहने-सुनने से प्रभाव पड़ने की आशा थी।

एक दिन जब मन्दिर में भवाइयों का तमाशा हो रहा था, गिरिधरलालजी 'कान्ह तिबारी' में बैठे खेल देख रहे थे। तमाशा करने वालों का जमघट जमा था और खेल वाले अपना करतब दिखला रहे थे।

खेल के ठीक समय नाथद्वारा के तिलकायित की सवारी आई। उन्होंने खेल देखते ही गिरिधरलालजी को फटकारना चाहा। कहते हैं कि उस समय उन्हें गिरिधरलालजी महाराज की गोद में बैठकर खेल देखते हुए द्वारकाधीश के दर्शन हुए। नाथद्वारा के तिलकायित प्रभु की इस बाललीला-भाव के दर्शनकर मुग्ध हो गये और उन्होंने भी कुछ द्रव्य न्यौछावर कर भवाइयों को प्रदान किया। लोगों ने जब इसका कारण पूछा तो वे यह कहकर वहाँ से चले गये कि महाराज अपने शौक के लिये नहीं, प्रत्युत ठाकुरजी के लिये ही यह खेल करवाते हैं। ठाकुरजी की प्रसन्नता के लिये सब कुछ न्यौछावर किया जा सकता है।"

इस घटना का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि गिरिधरलालजी महाराज के शिष्य भी गुजरात के मन्दिरों में भवाइयों के खेल करवाने लगे और यह क्रम बहुत समय तक चलता रहा।

गुजरात में आपके अनेक सेवक हुए और मन्दिरों की स्थापना भी की। गायन, वादन, नृत्य और नाटक ये चारों कला आपको प्रिय थीं। अपनी प्रिय कलाओं को भवाई द्वारा सेव्य प्रभु को प्रसन्न करने का साधन माना गया और धंधुकादि गुजरात के कुछ गाँवों में तो आपके जन्म दिन के रोज भवाई खेल का आयोजन भी किया जाता था। यह प्रथा वर्षों तक रही। भवाई करने वाले नायक कौम के कलाकार भी आपके सेवक हुए, इनमें से कुछ भावुक कलाकारों को सम्प्रदाय के कीर्तनों की

तालीम देकर मन्दिरों में कीर्तन की सेवा में नियत किये। इस प्रकार हवेली संगीत का प्रचार क्रमशः गुजरात में होता रहा।

नायक (भवैया) कौम का संबंध सम्प्रदाय में श्री गुसांईजी के सेवक दयाराम भवैया के समय से है। २५२ वैष्णव की वार्ता में दया भवैया की वार्ता सुप्रसिद्ध होने से यहाँ उनका विस्तार करना नहीं चाहते हैं। दया भवैया जिस स्वरूप की सेवा करते थे वह श्री मदनमोहनजी का स्वरूप आज जूनागढ़ के बड़े मन्दिर हवेली में विराजमान है।

दया भवैया के समय से इस जाति के लोग दूर-दूर तक जाते थे। अंदाज से ऐसा लगता है कि इनके समकालीन गोपाल-नायक भवाई मंडली के साथ दस वर्ष की आयु में आग्रा गये थे। वहाँ उनकी चपलता और मधुर कंठ देखकर उनको ग्वालियर भेजा गया। यह गोपाल-नायक तानसेन के समकालीन थे।

इस प्रकार गोपाल-नायक भारत का अमर गायक हो गया। कहा जाता है कि नायक बैजू (बैजनाथ) भी इस प्रकार गुजरात का ही कलाकार था किन्तु हमारी नायक जाति में केवल नायक गोपाल के संबंध में ही किंवदन्तियाँ परंपरा से सुनी जा रही हैं।

लोक-मनोरंजन करती हुई भवाई मंडलियाँ अनेक संख्या में छोटे-बड़े राज-कुटुम्बों में भी जाया करती थीं जिनमें से कुछ कलाकार राज-कुटुम्बों में रहकर संगीतादि कलाओं द्वारा मनोरंजन करते थे। इनमें से यहाँ हम भवाई को वैष्णव सम्प्रदाय द्वारा जो आश्रय प्राप्त हुआ है इस संबंध में ही कुछ कहेंगे।

अकबर शाह के समय में श्री गुसांईजी को अनन्य सेवक नायक 'दयाराम' भवैया के संबंध में हम कह चुके हैं। इसी समय से वैष्णवों में, वैष्णव राजाओं में एवं गोस्वामी महाराजश्रीओं में भवैई को उत्तेजन मिलता रहता था।

वि. सं. १८५६ (ई.सं. १८००) के बाद अष्टछापीय संगीत परंपरा का उपर्युक्त विभागीकरण के अनुसार तीसरे चरण का आरंभ होता है। पूर्व के दो चरणों में उद्भव और विकास की चर्चा के बाद यहाँ से जो भारतवर्ष में प्रचार हुआ उसकी ओर दृष्टि करेंगे।

(१) इस प्रचार में मुख्यतः सम्प्रदाय के संगीतज्ञ गोस्वामी महाराजश्रीओं का।

(२) सम्प्रदाय के मन्दिरों-हवेलियों का तथा।

(३) सम्प्रदाय के व्यवसायी और अव्यवसायी कीर्तनकारों का यादगार हिस्सा प्रशंसनीय है जिनमें से यहाँ इस युग के पूर्व विभाग के गोस्वामी बालकों में से प्रथम पू. पा. श्री व्रजनाथजी महाराज का स्मरण करेंगे।

गो. श्री व्रजनाथजी महाराज जामनगर

जामनगर में मन्दिर की स्थापना के संबंध में पहले कह चुके हैं। इसी स्थान

पर आप जामनगर में निवसित होकर सौराष्ट्र की वैष्णव जनता को अपने आप सद्गुणों से आकर्षित कर रहे थे। "संगीतादित्य" पुस्तक में आपके संबंध में लिखा है कि "श्रीमन्महाराजनी भव्य कांतिसाथ अहर्निशना जप-तपने लीधे पवित्र परमाणुओं दर्शन करनारने पूज्य स्नेहथी वश करी लेता हता। ब्राह्म षट् कर्ममां तथा श्रीकृष्ण-चंद्रजी ने तन-मन-धन समर्पी तेमनी सेवामां तेओ आसक्त रहेता हता। संगीत द्वारा ईश्वर भजन करवुं ते पण तेमनुं मुख्य आन्हिक हतुं। तेओ विद्यामां रागी तथा गुणग्राही हता। परोपकार तेमनुं स्वाभाविक वलण हतुं। काव्यादिक रसना पूरा भोक्ता हता। चातुर्यादि गुणथी अलंकृत हता। दयाभावथी हृदय सार्द्र रहेता हता। लोभथी विरागी हता। परगुणपरत्वे धननो त्याग ए तेमनी प्रीतिनुं स्थान हतुं।"

सम्प्रदाय के प्रचारार्थ आप कलकत्ते से द्वारका तथा दिल्ली से पुणे-सतारा की यात्रा के उपरांत जोधपुर, जैपुर, बीकानेर, बूंदी, कोटा, उदेपुर, ग्वालियर, काशी, उज्जैन, मथुरा, जगन्नाथादि शहरों की यात्रा में उस्ताद आदित्यरामजी को साथ लेकर अष्टछापीय संगीत परंपरा का प्रचार भी करते रहे। इस प्रकार वहाँ के संगीतज्ञ उस्तादों से आदितरामजी की भेंट होती रही और सम्प्रदाय के द्रुपद-धमारों का मृदंग के साथ प्रचार भी करते रहे।

आप सेवा के साथ कीर्तनों का गान करते थे तथा मृदंग भी बजाते थे। इस प्रकार साहित्य और संगीत में प्रवीणता प्राप्त कर एवं वैष्णवों में अत्यन्त आदरपात्र होकर श्री व्रजनाथजी महाराज भगवद लीला स्मरण हुए–सं. १९२४।

गो. श्री दामोदरलालजी गो. श्री गिरिधारलालजी गो. श्री कल्याणरायजी महाराज

इसी समय के गोकुल-मथुरा के (१) गो. श्री दामोदरलालजी (२) श्री गिरिधर-लालजी (३) श्री कल्याणरायजी को भी भूलना न चाहिये जिन्होंने "रागकल्पद्रुम" नामक ग्रंथकर्ता कृष्णानंद व्यास को "राग-सागर" की उपाधि प्रदान की थी।

"राग कल्पद्रुम" ग्रंथ के दोनों भाग सं. १८४२ से १८४९ तक प्रसिद्ध किये गये थे जिनमें से आवश्यक उल्लेख यहाँ इस प्रकार है।

मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत उदयपुर 'जोहती' नामक स्थान में कृष्णानंद व्यास रहते और गोकुल में संगीत शास्त्र पढ़ते थे। गोकुल के सुप्रसिद्ध संगीताचार्य दामोदर गोस्वामी गिरिधर गोस्वामी एवं कल्याणराय प्रभृति गोस्वामी गण ने उन्हें 'राग-सागर, की उपाधि दी थी।

× × उन्होंने ३२ वर्ष उत्तर एवं दक्षिण भारत के स्थान-स्थान घूम-फिर उस्तादों या गायकों और पदकर्ताओं से मिलकर उनके निकट उस समय भाषा में जितने प्रकार के श्रेष्ठ गान रहे उन सबका संग्रह किया।

× × × हिन्दुस्तानी पंडितों और गायकों में भाषा-ज्ञान का भी यथेष्ट तारतम्य है।

× × × गायक जिस भाव से गाता है, उसीके स्वरालाप की पद्धति और उच्चारण के आधार पर ही ग्रन्थ छपाने की अनुमति देता है।

गो. श्री कन्हैयालालजी महाराज गोकुल

सं. १९२५ को श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन आपका जन्म हुआ था। आप श्री चतुर्थगृह के तिलकायत थे। संगीत साहित्य एवं नृत्य-नाट्यादि कलाओं के प्रति बाल्यकाल से ही आप आसक्त थे।

आपके पूर्व तृतीय तिलकायत गो. श्री व्रजपति महाराजश्री विक्रम की अठारवीं शताब्दी में बिराजमान थे। आपको अष्टछाप के पदों का तल-स्पर्शीय अभ्यास था। यही नहीं आपने स्वयं अनेक पदों की रचना की है जो आज भी "व्रजपति" के छाप के अनेक पद प्रभु सन्मुख गाये जाते हैं। इस प्रकार के बहुत से पद प्राचीन संग्रहों में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार व्रजपति महाराज की संगीत और कीर्तन की परंपरा गो. श्री कन्हैयालालजी महाराज में यथार्थ रूप से दिखाई देती थी।

आप स्वयं कवि थे। सं. १९४९ से आपके पास कविजनों-गुणीजनों-संगीतकार नाट्यकार इत्यदि कलाकार रहा करते थे। आपके यहाँ ६ लहिये गद्य-पद्यादि साहित्य लिखने के लिये रहते थे। आपने अनेक कवित्त, सवैया, धोल, गरबी इत्यादि की रचनायें की हैं। गुजराती भाषा का आपको उत्तम ज्ञान था। कवि दयारामादि के पद आपको बहुत प्रिय थे। स्वयं गाते भी थे और उनका प्रचार भी करते थे। भक्त नरसिंह महेता रचित प्रिय पद आपके द्वारा लिखित पद संग्रहों में दृष्टिगोचर होते हैं। चतुर्थगृह के मूल पुरुष गो. श्री गोकुलेश प्रभु को भी नरसिंह के पदों के लिये अति आदर था। अष्टछापीय कीर्तन संगीत का आपको अच्छा अभ्यास था। सैकड़ों पद-कीर्तन आपको कंठस्थ थे। सेवा के समय में प्रणालीनुसार अष्टछाप के पदों का गान किया करते थे।

कीर्तन गान के साथ सेवा विधि में बजने वाले शंख, घंटा, झालर, इत्यादि भी स्वर-संवाद से मिले हुए रखे जाते थे। अर्थात् तानपुरा, पखावज, सारंगी का स्वर षड्ज में मिला हुआ हो तो झालर, घंटा, झांझ आदि मध्यम या पंचम स्वर में मिले हुए रखे जाते थे। आप जरा भी बेसुरे आवाज को सहन नहीं करते।

एक रोज छट्ठी के दिन शंकर का वेश धारण करके नृत्य करते हुए आप महादेव लीला के कीर्तन गान करते थे और अन्य कीर्तनिया आपके पीछे झीलते हुए गाया करते थे। साथ में तबला की दो जोड़ रखी गई थी। चतुरा और बदलू दोनों तबलची उपस्थित थे। चतुरा संगत कर रहा था। कुछ समय बाद तबला बेसुरा हुआ

कि तुर्तही आपने इशारा किया किन्तु चतुरा का ध्यान न जाने से आपने हाथ में धारण की हुई शृंगी का जोर से तबला पर आघात किया। पुड़ी टूट गई और टूट जाने से बदलू ने दूसरे तबले पर संगीत शुरू किया। इस प्रकार गान समय कोई भी वाद्य बेसुरा या चढ़ा-उतरा हो जाय तो उसको मिलाने में जरा भी विलम्ब होना चला नहीं लेते। इसी कारण आप प्रत्येक दो दो वाद्य और वादक रखते थे; जैसे गायक में गोपालजी और चंदनजी, तबला वादक चतुरा और बदलू, सारंगी वादक कुंदन स्वामी और गंगुली, दिलरुबा (इसराज) वादक छन्नुजी तथा लालनजी चौबे। इस प्रकार कविजन, गुनीजन और नाट्य कला के तथा सम्प्रदाय के कीर्तन कला के कलाकार भी आपके साथ रहा करते थे। जिनमें उपर्युक्त बताये गये गायक, वादकों के अतिरिक्त ये भी हैं– जमनलालजी, रामकृष्णलालजी, बिहारी, रोशन कवि (गिरिराज के), मोहन कवि, न्यालचंद्र, रघुनाथ, मथुरदास, कलोजी, मुनशी, गोविन्दराम, मथुरी, केदारी, नन्सी वेगनीया, जोरावर, अमचूर, कोकम, प्याजमंद, इजारमंद, पिरवी, छबीलदास नायक, व्रजवल्लभ शास्त्री, हिम्मतलाल, मगनलाल, हरगोवनदास और शंकर समाधानी।

निम्न कवित्त की आपकी रचना में शीतकाल में गाये जाने वाले राग के उल्लेख से संगीत शास्त्र का एवं कविता का उत्तम ज्ञान दृष्टिगत होता है।

"मंदिर शिखर दान अन्दर दुलीचा दिव्य अगर अंगीठी आन सुखद धरी है,
चारों ओर दीपदान सखीपै अतरदान पानदान पीकदानी हाजिर खरी है,
मालकोस ललित बिभास षट जोनपुरी आसावरी नाइकी निसदिन अरी रहै,
ऐसे नंदलाल के कहां को शीतकाला
जाको कैऊ व्रजबाला गले माला सी परी है ॥

आपको नाटक का भी अत्यन्त शौक था। आपने चंद्रावली, लीलावती, मनहार लीला, जोगी लीला, भूलभुलैया इत्यादि नाटकों की रचना की थी। तदुपरांत अन्य नाटक भी आप अपने आश्रितों द्वारा कराते थे। यही नहीं कभी स्वयं भी नाटक के पात्र में अभिनय करते थे।

गो. श्री बालकृष्णलालजी महाराज (कांकरौली), गो. श्री गोपाललालजी महाराज (मथुरा), गो. श्री मधुसूदनलालजी महाराज (अहमदबाद), गो. श्री जीवनलाल जी महाराज (काशी):–

गो. श्री बालकृष्णलालजी का जन्म सं. १९२४ में हुआ था। आपके पिता का नाम गो. श्री कल्याणरायजी महाराज था, जो मथुरा के श्री दाऊजी, मदन मोहनजी के मन्दिर के अधिपति थे। आपको गो. श्री गोपाललालजी, गो. श्री कल्याणलालजी और गो. श्री बालकृष्णलालजी इन तीन पुत्रों में से श्री बालकृष्णलालजी महाराज सं. १९३६ में कांकरौली तिलकायत के स्थान पर विराजमान हुए। श्री कल्याणरायजी

महाराज ने कृष्णानन्द व्यास को 'राग-सागर' की उपाधि दी थी, यह हम पूर्व कह चुके हैं ।

श्री बालकृष्णलालजी महाराज संगीत, साहित्य और कला के उत्तम मर्मज्ञ थे। आप स्वयं कविता भी करते थे। 'कृष्ण' और 'कान्ह' उपनाम से आपने बहुतसी कविताओं की रचनाएँ की हैं। आपको उर्दू-फारसी का भी अच्छा परिज्ञान था। उन्होंने नाटक भी लिखे थे। आपश्री गायन और वाद्य विद्या के पारंगत थे। कांकरौली, मथुरा, बड़ौदा, राजनगर और काशी तीनों स्थानों में से जहाँ कहीं महाराजश्री का मुकाम होता था, सभी गुणीजन उनके पास उपस्थित होने आया करते थे। उस समय का बड़ौदा का एक प्रसंग यह है कि एक दिन अपने द्वारकाधीश के मन्दिर की बैठक में अंजनीबाई के गायन का कार्यक्रम रखा गया था। आपने 'मालवी' राग सुनाने की फ़र्माइश की। उस समय उस्ताद नजीरखाँ भी बड़ौदा आये थे, उनसे अंजनीबाई ने मालवी राग की तालिम प्राप्त की हुई थी। डेढ़ घंटे तक गायन का स्रोत बहता रहा। गाने और सुनने वालों की आँखों में आनंद के अश्रु भी दिखाई देने लगे थे। उस समय आपने अपने कंठ से मोती की माला उतारकर अंजनीबाई को प्रदान दी। इस प्रकार आपको द्रुपद, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, रसिया इत्यादि गान करने वाले सुनाने आया करते थे। ये सभी को मूल्यवान वस्तुओं का इनाम दिया करते थे।

गो. श्री गोपाललालजी महाराज अपने पितृचरण के पश्चात दाऊजी, मदनमोहन जी मन्दिर के अधिपति हुए। नृत्य कला में, नाट्य और गान कला में आप अच्छे पारंगत थे। तीनों भ्राताओं में आप नृत्य करते थे; गो. श्री बालकृष्णलालजी गान करते थे और गो. श्री जीवनलालजी महाराज तबला की संगत करते थे।

गो. श्री जीवनलालजी महाराज ने सुप्रसिद्ध मदनमोहन पखावजी से तबला, मृदंग का ज्ञान प्राप्त किया था। बनारस के गोपाल मन्दिर के आप अधिपति थे। गो. श्री बालकृष्णलालजी महाराज, गो. श्री गोपालालजी महाराज एवं गो. श्री कन्हैयालालजी महाराज तथा गो. श्री मधुसूदनजी महाराजों का बनारस में आपके यहाँ कई बार आना-जाना होता था। उस समय बनारस के गायक-वादक तथा गायिकाओं की (गणिकाओं की) महफिल होती रहती थी जिसमें ठुमरी के गायन से सभी मुग्ध हो जाते थे।

गो. श्री मधुसूदनलालजी महाराजश्री का जन्म मथुरा में संवत् १९२५ में गो. श्री व्रजनाथजी महाराज के यहाँ हुआ था किन्तु राजनगर में गो. श्री व्रजरायजी महाराज के पश्चात् आप नटवरलाल श्यामलाल मन्दिर की गादी पर गोद आये थे। आप श्री संगीत के अच्छे ज्ञाता थे। सम्प्रदाय के कीर्तन प्रणाली के सैकड़ों पद कंठस्थ थे। कीर्तन समाज में आप जब स्वयं कीर्तन गान करते तब कीर्तनीया मंडली और सुनने वाले सभी आनंद मग्न हो जाते थे। आप कला और सेवा के रसिक थे। फलतः

प्रभु के अनेक मनोरथ में विविध प्रकार की लीलात्मक सजावट और भावात्मक कीर्तन गान से सभी दर्शक वैष्णव आकर्षित हो जाते थे।

संवत् १९५४-५५ में आपने महादान का मनोरथ किया था। दानगढ़, मानगढ़ और गोवर्धन का शिखर इत्यादि के विविध प्रकार की भावात्मक सजावट, कीर्तन के साथ यथार्थ मूर्तिमान दिखाई देती थी। इस समय गो. श्री कन्हैयालालजी महाराज, गो. श्री गोपाललालजी महाराज, गो. श्री बालकृष्णलालजी महाराज भी विराजते थे। एक ओर श्री गोपाललालजी महाराज तथा दूसरी ओर पाँच साल के गो. श्री रणछोड़लालजी महाराज कीर्तन गाते थे। गोकुल के श्री कन्हैयालालजी महाराज और कांकरौली वाले श्री बालकृष्णलालजी महाराज दानगढ़ और मानगढ़ के शिखर पर जहाँ प्रभु बिराजते थे वहाँ से जब कीर्तनकारों ने 'गोवर्धन की शिखर पे मोहन दीनी टेर" यह पद गाना का आरंभ किया। तब ऊँची टेर का गान जब दोनों भ्राताओं ने तार सप्तक की टीप का स्वर लगाकर तथा छोटी तान मुर्कियां लेकर गान किया तब श्रोताजन मुग्ध हो गये थे। इस समय राजनगर के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञाता और गायकों के कदरदान सेठ श्री वाड़ीलाल जेसिंगभाई उपस्थित थे। सेठ श्री जैन होते हुए भी संगीत और साहित्य के माध्यम से वे गो. श्री बालकृष्णलालजी तथा गो. श्री मधुसूदन महाराज के संपर्क में सतत् आया करते थे। इस प्रकार की भावात्मक सजावट और लीलात्मक कीर्तन का झाँझ, मृदंग, सारंगी इत्यादि वाद्यों के साथ महाराजश्री ने जो गान किया जिससे प्रभावित होकर सेठ श्री ने कहा कि "गोकुल के कनैया के लीलात्मक संगीत गान का इस प्रकार के बंदिश में वाद्यों के साथ वास्तविक दर्शन कराने से आज मैं कृतार्थ हुआ हूँ।" इस प्रकार गो. श्री मधुसूदनलालजी महाराज नटवर प्रभु का अनेक विध मनोरथों से लाड़ लड़ाते थे। नटवर प्रभु के राजनगर में आगमन के विषय का उल्लेख निम्न प्रकार संक्षेप में दिया जाता है।

गो. श्री मधुसूदन महाराजश्री के पश्चात् आपके सुपुत्र गो. श्री रणछोड़लालजी महाराज नटवरलाल श्यामलाल मन्दिर के अधिपति रहे। बाल्यकाल से ही आपको कीर्तन संगीत के प्रति अनुराग था। सेवा और स्मरण के सिद्धान्त को अपने जीवन की दिन चर्या के साथ ओतप्रोत कर दिये थे। सेवा शृंगार में अतिरसिक थे। आपको कीर्तन प्रणाली के अनेक पद कंठस्थ थे। यही नहीं प्राचीन प्रणालीनुसार समाज में कीर्तन गान करने का आग्रह रखते थे। कीर्तनों के भावार्थ के आप अति मर्मज्ञ थे। इस ग्रंथ के लेखक ने भी युवावस्था में कीर्तनों का कठिन भावार्थ समझने के लिये आपके पास जाकर अलभ्य लाभ लिया था। अहमदाबाद की इस गद्दी पर मूल अधिपति गो. श्री रघुनाथलालजी महाराज थे जिनका कुछ परिचय यहाँ दिया जाता है।

अहमदाबाद के नटवरलाल श्यामलाल के मन्दिर में सबसे प्रथम गो. श्री रघुनाथलालजी महाराज ने सं. १९५१ में पधराये। आपके पश्चात् गो. श्री छोटाजी महाराज अतिप्रभावशाली व्यक्ति थे। मन्दिर की सेवा समृद्धि आपके समय में वृद्धि हुई।

सं. १८९४ में आपने छप्पन भोग का आयोजन किया था। उस समय गोकुल से गो. श्री लक्ष्मणलालजी महाराज पधारे थे। आपके साथ गोकुल के कीर्तनीया मंडली भी लाये थे ।

पू. पा. छोटाजी महाराज के बाद गो. श्री व्रजरायजी महाराज गादी पर आये। आप बड़े विद्वान थे। "वल्लभाख्यान" पर आपने संस्कृत टीका लिखकर सम्प्रदाय पर बड़ा उपकार किया है। सं. १९४३ में आपने श्री नटवर प्रभु को छप्पन भोग का मनोरथ किया था। उस समय गाँव-गाँव से कीर्तन की मंडलियाँ आई थीं और वैष्णव लोग कीर्तनों के अलौकिक आनंद में भाव मग्न हो गये थे :

गो. श्री जीवनलालजी महाराज:—लगभग १०० वर्ष पूर्व आप बम्बई में विराजमान थे। अष्टछापीय कीर्तन संगीत की प्राचीन पद्धति के आप उच्चकोटि के ज्ञाता थे। आप उच्चकोटि के बीनकार थे। यही नहीं घरानेदार गायक वादकों के भी मार्गदर्शक जैसे पारंगत थे। बहुत से गायक वादक आपके पास अपनी कला सुनाने को आया करते थे। महाराजश्री बीनवाद में अद्वितीय थे। एक दिन भारतवर्ष के नामी बीनकार अलीअहमद महाराजश्री को बीन सुनाने को आये थे। सुनकर महाराजश्री अति प्रसन्न हुए और रु. ५०० बक्षीस देकर कहा था कि उस्ताद के पास पाँच साल और अभ्यास करते तो बहुत ही अच्छा होता।

तानसेन घराने के बीनकार बाजपेयी से आपने बीन वादन का अभ्यास किया था तथा वल्लभदासजी से संगीतोद्धारक पं. भातखंडेजी ने शिक्षा प्राप्त की थी।

आपके सम्पर्क में रहकर व्यवसायी कीर्तनकार भाई शंकर गिरनारा, तुलजारामजी मुखियाजी, भट्टजी इत्यादि उस समय के नामी कीर्तनीया हो गये। अव्यवसायी वैष्णव कीर्तनकारों में पाटन के विट्ठलदास शाह उस समय के वैष्णव कीर्तनकारों में अद्वितीय थे। जिनके पास से जरीवाला जमनादास सेठ ने शिक्षा प्राप्त की थी। विट्ठलदास शाह हमेशा लालबावा के मन्दिर में मानद कीर्तनीया के नाते से वर्षों तक प्रभु सन्मुख कीर्तन की सेवा की तथा बाद में अपने गाँव पाटन में आकर अंत तक रहे। इस प्रकार बम्बई में अष्टछापीय हवेली संगीत के प्रचार में पू. पा. महाराजश्री का श्रम अभिनंदनीय है।

इसके अतिरिक्त बड़ा मन्दिर बम्बई के अधिपति गो. श्री जीवनलालजी महाराज का तथा गो. श्री गोकुलनाथजी महाराज का भी हवेली संगीत के उत्कर्ष और प्रचारार्थ किया हुआ श्रम कोई कम नहीं था। आपके मन्दिर में हमेशा (१) मुख्य कीर्तनीया (२) झीलने वाला (३) पखावजी और (४) सारंगीदार ये चारों आश्रित कीर्तन की सेवा में उपस्थित रहते थे। संगीत का आपको बड़ा शौक था। पं. भातखंडेजी कभी-कभी उत्तम गायक-वादकों को आपके पास भेजते थे। उनका संगीत सुनकर यथायोग्य बक्षीस देकर प्रसन्न करते थे।

परिशिष्ट–५

भवाई और उसका स्वरूप

भवाई आधुनिक नाट्यांक की जनेता मानी जाती है । भवाई खुले चौगान में होती थी। इसके आद्य पुरुष असाइत ठाकर सिद्धपुर (गुजरात) के औदित्य ब्राह्मण थे। सिद्धपुर के पास 'ऊँझा' गाँव में पटेल जाति के वे गोर थे। वे उच्चकोटि के कथाकार गायक थे। ऊँझा के यजमान की स्वरूपवान बेटी को उस समय के मुस्लिम सूबेदार की बेगम बनाने के लिये ले गये थे : उनके शील की रक्षा के कारण उस पटेल कन्या 'गंगा' को अपनी बेटी बनाली जिसके कारण ज्ञातिजनों ने असाइत को जाति से बहिष्कृत कर दिया। पाटीदार कौम की कुलदेवी उमिया माता के प्राचीन मन्दिर में असाइत के सात दिन तक निर्जल उपासना करने के बाद माता ने प्रसन्न होकर भवाई वेशों की रचनाकर, उसको भक्ति का अंग बनाने का आदेश दिया। असाइत के साथ अपने कुटुंब के तीन घर भी सम्मिलित हुए थे। इसलिये वे तीन घराले भी कहलाते थे जिसका अपभ्रंश आज 'त्रिगाला' हो गया है। असाईत ने भवाई के विविध वेशों की रचना कर नाट्य का एक अंग बनाया जिसमें संगीत की–गायन-वाद्य और नृत्य इन तीनों कलाओं का संगम किया।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में भवाई का आरंभ हुआ। इनमें कुछ समय बाद व्यास, सेवक और भोजक जो श्रीमाली ब्राह्मण से बहिष्कृत हुए थे वे भवाई की मंडली में जुड़ गये। भवाई की मंडलियाँ दूर-दूर तक राजा-महाराजाओं के महालयों में, जमींदारों के यहाँ तथा धनपतियों के यहाँ जाकर मनोरंजन के साथ भवित-भाव उपरांत वर्तमान परिस्थिति के विविध वेशों का समावेश करते थे,। मंडली के मुख्य कलाकारों को 'नायक' कहा जाता था। आजतक इनके वंशजों को नायक कहते हैं जो यह त्रिगाला–भवैया जाति के कहलाते थे। ब्राह्मण कुलोत्पन्न नायक जाति का यह आजीविका का साधन बन गया। फलतः ग्राम्यलोक की आम जनता को खुश करने के लिये शूद्र कोटिक हास्यास्पद संवादों का भी उसमें समावेश किया गया।

तथापि १८वीं शताब्दी तक भवाई का स्तर उच्चकोटि का रहा। अनेक प्रकार की काव्य रचना में धार्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक दृष्टि को सामने रखकर उपदेशात्मक रचनाएँ भवाई वेशों के पात्रों द्वारा प्रस्तुत की जाती थीं। इनमें गाये जाने वाली शैलियों के नाम इस प्रकार थे–कवित्त, छप्पय, साखी, दोहा, छंद, रेखता, धोल, आंखडुं, कडवुं, फगवा, गाथा, भावन, पवाडा, वधामणुं इत्यादि तालों में जो निम्न

गाये जाते थे। चौताला, मंद त्रिताल, दीपचंदी, उलाडो, त्रगडो, खोड, चलती और हींच। यही नहीं संगीत की व्याख्यानुसार गायन, वादन और नृत्य इन तीनों कलाओं का प्रयोग किया जाता था।

भवाई के गीतों के राग जो मेरी स्मृति में हैं, वे इस प्रकार हैं:–

(१) परज (२) प्रभात (३) रामकली (४) रामग्री (५) बिलावल (६) टोड़ी (७) आसावरी (८) सामेरी (९) भैरवी (१०) सारंग (११) माठ (१२) मेवाडो (१३) मल्हार (१४) मारवा (१५) मारू (१६) पूर्वी (१७) पूर्या (१८) गौरी (गोडी) (१९) खमायची (२०) देश (२१) सौरठ (२२) वेराडी (३३) बिहाग (२४) केदारो (२५) सोहनी (२६) बसंत।

प्राचीन पद्धति के भवैया गायक-वादक की संख्या ई.सं. १९०० के बाद दिन प्रति दिन कम होती जा रही थी। फलतः भवाई का स्तर नीचे की ओर गिरता रहा। उपर्युक्त बताये गये रागों में गान करने वाले आज दृष्टिगोचर होना मुश्किल है। सारंगी की जगह हारमोनियम और पखावज की जगह तबला ने स्थान ले लिया है।

भवैया जाति की उत्पत्ति के संबंध में हम कह चुके हैं। ब्राह्मण कुलोत्पन्न इस जाति में भवाई का व्यवसाय स्वीकारने से उनको समाज में भवैया कहने लगे थे। आधुनिक युग में अष्टछापीय कीर्तन परंपरा को सुरक्षित रखने में इन जाति के नायक एवं व्यास कौम के व्यवसायी कीर्तनकारों का स्थान उल्लेखनीय है। तदुपरान्त सौराष्ट्र के गिरनारा जाति के कीतनकारों का हिस्सा भी कुछ कम नहीं है।

सम्प्रदाय के संस्थापक श्रीमद् वल्लभाचार्य से गिरधरजी महाराज के समय तक श्री वल्लभ वंश के अनेक गोस्वामी महाराजश्रीओं के साथ अनेक बार गुजरात-सौराष्ट्र की यात्रा करते समय प्राचीन कीर्तन पद्धति के कीर्तन-गान करने वाले भवाई वाले साथ में आया करते थे। उन्हीं से उपर्युक्त जाति के भावुक व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त होती रही। कुछ व्यवसायी गायकों ने नाथद्वारा, कांकरौली एवं व्रजमंडल के निधि स्थानों में जाकर महीनों तक रहकर कीर्तन-गान की परंपरा का ज्ञान प्राप्त किया था। अधिकतर ऐसे व्यक्तियों को जाने-आने की, ठहरने की व्यवस्था मन्दिरों की ओर से होती रहती थी, किन्तु कीर्तन के प्रति आसक्तिवाले अव्यवसायी भावुक व्यक्ति यह व्यवस्था स्वयं कर लेते थे। इस प्रकार गुजरात-सौराष्ट्र में अष्टछापीय परंपरा के कीर्तनकारों का एक घराना हो रहा।

इस समय तक नाथद्वारा, कांकरौली इत्यादि सात गृहों में कीर्तनकारों की व्यवस्थित रूप से नियुक्ति हो रही थी। सम्प्रदाय की सेवा क्रम का भाव और शास्त्र से गहरा संबंध है। तदनुसार नाथद्वारा और कांरौली इत्यादि निधिगृहों में जो कीर्तनकारों की संख्या नियत की जाती है उनका संगीतशास्त्र से गहरा संबंध है। उपर्युक्त

स्थानों में कीर्तन मंडल की संख्या आठ होने की आजतक प्रणाली दिखाई देती है।
"संगीत रत्नाकर" ग्रन्थ में गान-वृन्द की चर्चा की गई है जिसमें (१) उत्तम (२) मध्यम
और (३) कनिष्ठ वृन्द के उल्लेख में (१) उत्तम वृन्द की संख्या ३२ जिनमें मुख्य
गायक चार, पार्श्व गायक १६ और अन्य १२ की संख्या बताई गई है (२) मध्यम
वृन्द में मुख्य गायक २, पार्श्व गायक ८ और अन्य ६ की संख्या मिलाकर कुल १६
संख्या और (३) कनिष्ठ वृन्द में मुख्य गायक १, पार्श्व गायक ४, और अन्य ३ मिलकर
कुल ८ की संख्या तथा १२ की संख्या का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

सम्प्रदाय में मुख्य गायक को कीर्तन मंडल के "मुखियाजी" और पार्श्व गायक को
झीलनिया (झीलनेवाले) कहे जाते हैं। इस प्रकार कनिष्ठ वृन्द अनुसार संगीत मंडल
में मुखियाजी एक, झीलनिया चार, बीनकार एक, पखावजी एक और सारंगिया एक
मिलाकर आठ की संख्या और वसंत-होरी के दिनों में डफ, उपंग, किन्नरी और मंझीरा
बजाने वाले अन्य चार रहते थे। इस प्रकार बारह की संख्या भी इस मंडल में नियत
की जाती है। इस शास्त्रोक्त लेखानुसार नाथद्वारा के ८ और कांकरौली के ८ मिलाकर
१६ की संख्या जब अन्नकूट के अवसर पर श्री द्वारकाधीश नाथद्वारा पधारते है तब
इकट्ठे होकर १६ की संख्या यानी मध्यम वृन्द बन जाता है। तदुपरान्त जब सातों
निधि स्वरूपों के 'छप्पन भोग" के अवसर पर अन्य निधि गृहों के कीर्तनकारों की संख्या
एकट्ठी होने पर उत्तम वृन्द बन जाता है।

उपर्युक्त व्यवस्था श्री द्वारकाधीश के गोकुल से कांकरौली पधारने के बाद
भवाई वाले गो. श्री गिरिधरलालजी महाराज के समय तक व्यवस्थित हो चुकी थी।

परिशिष्ट–६

संगीत शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का भावार्थ (पुष्टि-कीर्तन-प्रणाली में)

(१) संगीतः–शब्द में गायन, वादन और नृत्य कला इन तीनों कलाओं का इसमें समावेश होता है ('गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते')

(२) सुरः–स्वर

(३) सप्तकः–मुख्य सात स्वरों को मूल क्रमानुसार एक के बाद दूसरे को कहना, लिखना या गाना उसको सप्तक कहते हैं।

(४) संचगतिः–स्वरों का संचार भिन्न-भिन्न गति में करना (संचारी)।

(५) श्रुतिः–संगीतोपयोगी मुख्य नाद २२ हैं जिनको शास्त्र में 'श्रुति' कहते हैं।

(६) नादः–ध्वनि या आवाज। नाद के दो प्रकार हैं एक आहत (व्यक्त) और दूसरा अनाहत (अव्यक्त)। आहत नाद कानों से सुनाई देता है और अनाहत नाद केवल ज्ञान गोचर है।

(७) अवघरः–ताल प्रकरण में दिया गया है।

(८) तानः–'तन्' धातु से तान शब्द बना हुआ है। तान से राग का विस्तार होता है। तानों के सात प्रकार हैं–(१) अर्चिक तान (एक स्वर की) (२) गाथिक तान (दो स्वर की) (३) सामिक तान (तीन स्वरों की) (४) स्वरान्तर तान (चार स्वर की) (५) ओडव तान (पाँच स्वरों की) (६) षाडव तान (छः स्वरों की) (७) संपूर्ण तान (सात स्वर की) इन सात प्रकार के तानों की सहायता से अनेक प्रकार की तानें उत्पन्न होती हैं जैसे संपूर्ण तान प्रकार की ५०४०, षाडव तान की ७२०, ओडव तान की १२०, स्वरान्त तान की २४, सामिक तान की ६, गाथिक तान की २ और अर्चिक तान की १ किन्तु प्राचीन मतानुसार आरोह के स्वरों को तान और अवरोह के स्वरों को पलटा कहने का रिवाज है।

(९) लागः–गायन में जब किसी एक स्वर को तोड़कर दूसरे सप्तक के उसी स्वर पर ठहराव करके पुनः मूल स्वर को जब लिया जाता है तब जिस स्वर को प्रथम तोड़ दिया गया हो उसीको लाग कहते हैं।

(१०) डाट:–लाग स्वर के बाद जो ऊँचे सप्तक के उसी स्वर को अन्य स्वरों को स्पर्श किये बिना लिया जाता है उसको डाट कहते हैं जैसे मध्य सप्तक के मध्यम से तार सप्तक के मध्यम स्वर को पकड़ना।

(१२) ग्राम, मूर्छना का विरण राग-प्रकरण में दिया गया है।

(१२) अलाप या आलाप:–गायन के आरंभ में जिस राग में गीत गाने का हो उसी राग के वादी, संवादी, आरोह, अवरोह इत्यादि ध्यान में रखकर छोटे-छोटे मधुर स्वरों में उच्चारण करके राग का स्पष्ट स्वरूप प्रदर्शित करना इसे आलाप कहते हैं। विशेष विवरण इस ग्रंथ में आ चुका है।

(१३) तांडव:–मर्दाना नाच।

(१४) लास्य:–जनाना नाच।

(१५) हस्तक भेद:–हाथ की मुद्राओं के भेद।

(१६) उरप अथवा उलप:–एक के बाद दूसरे स्वरों से ग्रथित रूप से आरोह में जाने की क्रिया।

(१७) तिरप अथवा सुलप:–एक के पीछे एक स्वर के ग्रथित रूप से अवरोह की तरफ आने की क्रिया।

(१८) लरज:–मंद्र सप्तक के नीचे का मंद्र सप्तक के स्वरों को लरज के स्वर कहते हैं।

(१९) खरज:–मध्य सप्तक से नीचे का मंद्र सप्तक के स्वर को खरज के स्वर कहते हैं।

(२०) तरज:–(अ) मध्य सप्तक से ऊपर के तार सप्तक के स्वरों को तरज के स्वर भी कहते हैं। (ब) राग और ताल के नियम के अनुसार किसी एक या विशेष राग की सहायता से बनी हुई कर्णप्रिय काल्पनिक रचना को तरज अथवा तर्ज कहते हैं।

(२१) नृत्य:–नाचना। ताल, मान के नियमानुसार गायन के साथ कविता में रहे हुए गुप्त भाव को हावभाव, कटाक्ष द्वारा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करना।

(२) नाट्य:–एक से अधिक व्यक्ति अथवा नायक, नायिका आदि पात्र जब रंगभूमि के स्थान पर आकर गीत को कविता के भावों को प्रदर्शित करे उसे नाट्य कहते हैं।

(२३) नृत्त:–ताल मान के अनुसार मृदंग वगैरह वाद्यों के साथ किसी हाव-भाव के बिना केवल विविध प्रकार से शरीर को नचाने की क्रिया को **नृत्त** कहते हैं।

(२४) ताल, अतित, अनाघात, गति, लघु, गुरु, जति, प्रातघात, उपर्युक्त शब्दों के भावार्थ ताल प्रकरण में दिये गये हैं।

परिशिष्ट—७

हवेली संगीत के वाद्यों का परिचय

तंबूर:—तंबूर को तानपुरा भी कहते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि तुंबरु ऋषि का यह वाद्य होने से तुंबरु-वीणा या तंबूर भी कहते हैं। सम्प्रदाय के पद में सूरबीन का जो उल्लेख आता है इसको तंबूर ही कहा जायगा। केवल बोध कराने वाली वीणा होने से इसको सूरबीणा भी कहा गया है। पुष्टि सम्प्रदाय की कीर्तन प्रणाली में नित्य क्रम की कीर्तन सेवा में श्री को जगाने और पौढ़ाने तक के कीर्तन तंबूर अर्थात् तानपुर के साथ ही गाये जाते हैं। अतः इसको कीर्तन गान का मुख्य वाद्य कहा जायगा। इसमें चार तार लगाये जाते हैं। पाँच और छः तार के तानपुरे भी आज दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु प्राचीन प्रणाली के अनुसार चार तार का ही तानपुरा सम्प्रदाय की प्रणाली में माना गया है। मध्य के दो तार मध्य सप्तक के षड्ज में तथा बांयीं ओर के तार पंचम में और दाहिनी ओर के तार मन्द्र षड्ज में मिलाये जाते हैं।

बीन (वीणा):—सम्प्रदाय की प्रणाली में दो प्रकार की वीणा प्रचार में है। नाथद्वारा में जो बीन बजाई जाती है उसको वे किन्नरी-वीणा कहते हैं, जिसमें पाँच तार होते हैं। उसमें बाज तार केवल एक ही रहता है। दो तुम्बे वाली इस बीना को बजाने का तरीका स्वतंत्र है। दूसरे प्रकार की बीन जो कांकरौली में और कुछ अन्य मन्दिरों में भी बजाई जाती है उसमें पर्दाओं के ऊपर चार तार लगाये जाते हैं।

इस प्रकार की वीणा में पोले बाँस की दांड को दो तुम्बे लगाये जाते हैं। दंड के ऊपर २२ श्रुतिओं को बनाने वाली १४ सारिका रहती हैं, जो पीतल की बनी हुई होती हैं और मोम से चिपकी हुई रहती हैं। दाहिनी ओर तीन तार चिकारी के मोम से लगे हुए रहते हैं। इसको कच्छपी या रुद्र वीणा भी कहते हैं।

सितार:—बीन-वीणा के अभाव में आजकल सितार का भी प्रयोग किया जाता है। सितार का उल्लेख अष्टछाप के पदों में दिखाई नहीं देता। किन्तु अष्टछाप की परंपरा के मुरारीदास ने राग अडाने की धमार में इस प्रकार उल्लेख किया है।

“गावत धमार आई ब्रज की नार ×××× “संख सृंग चंग उपंग महुवर बंसी सुहतार” इनमें सुहतार शब्द से सितार का बोध होता है। सितार को आरंभ में सहतार भी कहा जाता था।

सारंगी:—सारंगी का उल्लेख परमानंददासजी ने अपने पद में इस प्रकार किया है।

"रुंज मुरज आवज सारंगी जांज कीन्नरी बाजे" सारंगी प्राचीन वाद्य है। सम्प्रदाय में इसको श्रीजी सन्मुख बजाने का आरंभ श्री हरिरायजी के समय में माना जायेगा। इसमें ऊपर की तरफ तार के स्थान पर तांत की डोरी लगाई जाती है। नीचे की तरफ तुरबें लगी हुई रहती हैं। बायें हाथ की अंगुलियों के नाखून से तांत के तार पर घर्षण करके और दाहिने हाथ से घोड़े के पूंछ के बाल लगे हुए गज से बजाई जाती है।

मृदंग (पखावज):—उत्तर भारत में मृदंग बजाया जाता है उसको पखावज कहते हैं। यह शब्द १५वीं शती के पश्चात् प्रचार में आया हुआ माना जाता है। दक्षिण और बंगाल में जो मृदंग बजाया जाता है वह उत्तर का मृदंग अर्थात् पखावज से कुछ भिन्न दिखाई देता है। दोनों का बाज भी भिन्न है। पुष्टि सम्प्रदाय के मन्दिरों में जिस मृदंग का उपयोग किया जाता है उसके एक ओर शाही लगी रहती है और दूसरो ओर पानी से बँधी हुई आटे की लुगदी गोलाकार में लगाई जाती है। शाही के पुड़ी पर दाहिने हाथ से और आटे वाली पुड़ी पर बायें हाथ से पखावज बजाया जाता है। हवेली संगीत प्रणाली में मंगला के दर्शन बाद मृदंग का उपयोग किया जाता है। उत्सव-त्यौहारों में शयन दर्शन में भी पखावज बजाया जाता है।

झांझ:—सम्प्रदाय की प्रणाली में उत्सव-त्यौहारों के दिनों में मृदंग के साथ झांझ बजाई जाती है। इन दिनों में तानपुरे के स्थान पर झांझ बजाकर ही कीर्तन गाये जाते हैं। झीलने वाले अन्य कीर्तनकार भी झांझ बजाकर गाते हैं। झांझ कांसे और अन्य धातु की बनती हैं जो आठ अंगुल से सोलह अंगुल तक के व्यास की बनी हुई होती है। ताल स्थान पर और लय के आधार पर दो हाथ से बजाई जाती है।

किन्नरी:—किन्नरी का प्रयोग ताल-वाद्यों के साथ किया जाता है। किन्नरी को 'कर्करी' भी कहते हैं। पक्के लोहे की छड़ को त्रिकोणात्मक मोड़कर बनाई जाती है और छोटीसी लोहे की छड़ से बजाई जाती है। सम्प्रदाय में होली के दिनों में धमारों के गान के साथ झांझ के उपरान्त यह किन्नरी बजाई जाती है।

डफ:—डफ का प्रयोग सम्प्रदाय में होली के त्यौहारों में अर्थात् माघ शुक्ल से डोल तक किया जाता है। झांझ-मृदंग के साथ यह बजता है। डफ एक हाथ से डेढ़ हाथ तक का होता है। पतली लकड़ी के घेरे पर पतले चमड़े से मढ़ा हुआ होता है। बायें हाथ से पकड़कर हृदय के समीप रखकर दाहिने हाथ से मृदंग के तालों के आधार पर बजाया जाता है।

उपंग:—यह डमरू आकार का होता है और १६ से २० अंगुल तक काष्ट या धातु का बना हुआ होता है। एक ओर पतले चमड़े से मढ़ा हुआ होता है। तांत की डोरी लेकर उसके सिरे पर गाँठ लगाकर चमड़े की एक टिकुली उसमें पिरो देते हैं। फिर तांत की डोरी को चमड़े के मध्य से दूसरी ओर निकालकर उसे एक लकड़ी

के टुकड़े पर लपेट लेते हैं। यह डोरी चार हाथ लंबी होती है। बैठकर बायीं बगल में रखकर बायें हाथ से पकड़ के दाहिने हाथ से जबा द्वारा तांत छेड़ी जाती है। सम्प्रदाय में यह वाद्य होली के दिनों में डफ के साथ बजाया जाता है।

खंजरी:–डफली के घेरे में तीन या चार जोड़ी झांझ के ढंग की छोटी सी झांझें लगी रहती हैं। लकड़ो के घेरे पर पतला चमड़ा लगाया जाता है। यह खंजरी नृत्य में विशेष रूप से बजाई जाती है। सम्प्रदाय में होली के दिनों में डफ, उपंग के साथ खंजरी का उपयोग किया जाता है।

हारमोनियम:–आजकल सम्प्रदाय में सारंगी का स्थान हारमोनियम ने ले लिया है। इसका उपयोग सम्प्रदाय में लगभग ६० साल से होने लगा है। यह वाद्य अधिक प्रचलित है इसलिये अधिक जानकारी दी गयी नहीं है।

परिशिष्ट–८

षटऋतु के कीर्तन-संगीत से भक्तों का लीला संबंध

सम्प्रदाय की सेवा प्रणालियों का प्रत्येक ऋतु से गहरा संबंध है। इस विषय का यहाँ विचार करते हैं। वर्षभर की छः ऋतुओं के कीर्तन–गान की दृष्टि से निम्न समय माना जाता है ।

(१)	हेमंत-कार्तिक (गुर्जर आश्विन)	बदी १ से मार्गशीर्ष शु-१५
(२)	शिशिर-पोष (गु. मार्गशीर्ष)	बदी १ से माघ शु. १५
(३)	वसंत-फाल्गुन (गु-माघ)	बदी १ से चैत्र शु-१५
(४)	ग्रीष्म-वैशाख (गु. चैत्र)	बदी १ से जेठ शु-१५
(५)	वर्षा-आषाढ़ (गु. जेष्ठ)	बदी १ से श्रावण शु-१५
(६)	शरद-भादो (गु. श्रावण)	बदी १ से आश्विन शु-१५

उपर्युक्त छः ऋतुओं में नवधा भक्ति के नव प्रकार के भक्तों के कीर्तन अंगीकार किये हुए हैं। हेमंत और शिशिर में श्रवण, कीर्तन एवं अर्चन; वसंत-ग्रीष्म में स्मरण, पाद सेवन एवं वंदन तथा वर्षा-शरद में दास्य, सख्य एवं आत्म निवेदन भक्ति की सेवा प्रभु अंगीकार करते हैं। ये नवधा भक्ति प्रेम लक्षणा भक्ति के अन्तर्गत है।

सम्प्रदाय की लीलात्मक भावनानुसार छः ऋतुओं में सात्विक, राजस और तामस भक्तों की सेवा का विभाजन-क्रम निम्न प्रकार माना जाता है।

तामस––सात्विक ,, ––राजस ,, ––तामस	हेमंत-शिशिर (शीतकाल)
राजस ––सात्विक ,, ––राजस ,, ––तामस	वसन्त-ग्रीष्म (उष्णकाल)
सात्विक––सात्विक ,, ––राजस ,, ––तामस	वर्षा-शरद (चतुर्मास)

मुख्यतः व्यवहार में शीतकाल के कार्तिक से माघ, उष्णकाल के फाल्गुन से जेठ और चातुर्मास के आषाढ़ से आश्विन मास माने जाते हैं। ऋतुक्रम के इन महीनों से

नवधा भक्ति एवं सात्विक, राजस और तामस भक्तों की सेवा का गहरा संबंध है। इस संबंधानुसार पुष्टि सेवा प्रकार के राग, भोग और श्रृंगार की प्रणाली नियत की हुई दिखाई देती है। इस आधार पर यहाँ पुष्टि संगीत (हवेली संगीत) प्रणाली का निम्न प्रकार विचार करें।

(१) तीन प्रकार के तामस भक्तों का समय कार्तिक शु. १५ से फाल्गुन शुक्ल-१५।

(२) राजस भक्तों का फा. शु. १५ से आषाढ़ शु. १५ तथा

(३) सात्विक भक्तों की सेवा आ.शु. १५ से का.शु. १५ तक मानी जाती है।

कार्तिक शु. १५ से फा. शु. १५ तक के चार महीनों में शीतकाल की दो ऋतुएँ मानी जाय। तीन प्रकार के तामस भक्तों के अधिकार की सेवा का विभाजन इस प्रकार दिखाई देता है।

प्रत्येक प्रकार के भक्तों को सेवा का विशिष्ठ अधिकार ४० दिन का माना जाता है। इस प्रकार नवधा भक्ति के नौ प्रकार के भक्त तथा सात्विक, राजस, तामस इन नौ प्रकार के भक्तों की ४०×९=३६० दिन की सेवा का अखंडित क्रम माना जाता है। सम्प्रदाय के ऋतु अनुसार सेवा प्रणाली की यह एक विशिष्टता है कि प्रत्येक ऋतु के आरंभ के पूर्व कुछ दिन ऋतु आगमन माना जाता है जैसे:–

शीतकाल (हेमंत ऋतु) का आरंभ का. शु. १५ से कात्यायनी व्रत से माना जाता है किन्तु का. शु. ११ से उसके आगमन के दिनों का आरंभ हो जाता है। उसी रोज से श्रीजी को रुई का गद्दल, फरगुल इत्यादि धराये जाते हैं। अँगीठी एवं परदे भी लगाये जाते हैं।

शीतकाल में गाये जाने वाले प्रधान रागों में से मुख्यतः ललित, मालकौस, खट, जेतश्री, धनाश्री इ. रागों का प्रबोधिनी की रात्रि के जागरण पश्चात् राजभोग पर्यन्त की सेवा में ही आरंभ किया जाता है। यही नहीं चातुर्मास में गौण हो जाने वाले भैरव, बिलावल, आसावरी, टोडी, नायकी, अड़ाना आदि राग हेमंत और शिशिर ऋतु में गाये जाते हैं।

का. शु. १५ से पुस (गुर्जर मागसर) बदी ९ तक के ४० दिन तथा मागसर (व्रज पोष) बदी १० से माघ शुक्ल ४ तक के ४० दिन तामस-सात्विक और तामस-राजस भक्तों द्वारा उपर्युक्त रागों में गान होने की भावना की जाती है।

तत्पश्चात् माघ शु. ५ से ४० दिन की सेवा में तामस-तामस भक्त की भावना मानी जाती है।

हमारे संगीत की एक विशिष्टता यह है कि जिस प्रकार सामग्री और श्रृंगार में ऋतु-ऋतु अनुसार परिवर्तन होता रहता है, तदनुसार कीर्तन गान के राग भी ऋतुओं

लेखक के अन्य प्रकाशन

(१)	संगीत कीर्तन पद्धति अने नित्य कीर्तन	(अप्राप्य)
(२)	संगीत काव्य सुधा	न्यो. रु. ३-५०
(३)	संगीत पाठावली	(अप्राप्य)
(४)	संगीत सुबोधिनी	न्यो. रु. २०-००
(५)	वर्षोत्सव कीर्तन संग्रह भाग-१	(अप्राप्य)
(६)	वर्षोत्सव कीर्तन संग्रह भाग-२	(अप्राप्य)
(७)	वसंत धमार संग्रह	(अप्राप्य)
(८)	संक्षिप्त नियम–श्री यमुनाजीना पद धोल	(अप्राप्य)
(९)	प्राचीन धोल–पद संग्रह	न्यो. रु. १०-००
(१०)	वल्लभाख्यान–मूल पुरुष	(अप्राप्य)
(११)	नित्य कीर्तन सुधा	(अप्राप्य)
(१२)	नित्य पद संग्रह	न्यो. रु. ३-५०
(१३)	हिन्दी धोल पद संग्रह (संपादक)	(अप्राप्य)
(१४)	कीर्तन पद्यावली (संपादक)	(अप्राप्य)
(१५)	संक्षिप्त बधाई संग्रह	न्यो. रु. २-००
(१६)	गुजराती नाटकोना गीतोनी सरगम (स्वरलिपिकार)	(सस्तु साहित्य प्रकाशक)

अप्राप्य पुस्तकों का आर्थिक सहायता मिलने पर पुनर्मुद्रण किया ज़ायेगा।

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क––

अष्टछाप संगीत कला केन्द्र
६०, नायक नगर,
अहमदाबाद–३८० ०१४